हिन्दी-काव्य-मञ्जरी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१६२८

द्वितीय संस्करण]

मूल्य १॥)

भूमिका

हिन्दी का शब्द-भाण्डार

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति यद्यपि अर्धमागधी और शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है तथापि उसके शब्द-भाण्डार को भरने में संस्कृत, प्राकृत आदि और भी अनेक भाषाओं ने योग दिया है। दूसरी भाषाओं के शब्द उसमें कुछ तो अविकल रूप से आये हैं और कुछ अदल-बदल होकर। शब्दों के रूपात्मक विकास का यह एक स्वाभाविक नियम है कि अन्य भाषाओं से आये हुए जिन शब्दों के उच्चारण में **स्थान और प्रयत्न**-सम्बन्धी कठिनाई होती है या जिनके अविकल रहने में भाषा में अस्वाभाविकता आती है वे ग्राहक भाषा के निकटतम उच्चारण से प्रभावान्वित होकर नया स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस नये स्वरूप को ग्रहण करने में कहीं एक या अधिक अक्षरों का लोप हो जाता है, कहीं नये अक्षर आ मिलते हैं, कहीं अक्षरों में उलट-फेर हो जाता है और कहीं सभी अक्षरों में परिवर्तन हो जाता है; परिवर्तन के इन स्वाभाविक नियमों को क्रम से लोप, आगम, विपर्यय और विकार कहते हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि एक शब्द में एक ही

नियम चरितार्थ हो—एक से अधिक नियम भी एक साथ ही लागू हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत के '<u>भ्रातृजाया</u>' शब्द को लीजिए; इसी से हिन्दी का '<u>भावज</u>' शब्द बना है; इसमें लोप और आगम के दो नियम एक साथ ही चरितार्थ हो रहे हैं। इसी तरह और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें एक से अधिक नियम लगते हैं।

हिन्दी में ऐसे शब्दों की संख्या सबसे अधिक है जो या तो सीधे प्राकृत से इसमें आये हैं या प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इन शब्दों को तद्भव कहते हैं। <u>तद्भव शब्दों</u> से भाषा में स्वाभाविकता आती है। जहाँ तद्भव शब्दों से भाव व्यक्त हो सके वहाँ संस्कृत शब्दों को, जहाँ तक हो सके, न लाना चाहिए। तद्भव शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

संस्कृत	तद्भव
भ्रातृजाया	भावज
दधि	दही
दुग्ध	दूध
रूक्ष	रूखा
भिक्षा	भीख

इत्यादि।

संस्कृत के वे शब्द, जो विना किसी परिवर्तन के अपने शुद्ध स्वरूप में हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, '<u>तत्सम</u>' कहलाते हैं, जैसे

गुरु, माता, पिता, धन, वन इत्यादि। तत्सम शब्द हिन्दी में बहुत हैं और दिन प्रति दिन इनकी बढ़ती ही होती जाती है। भाषा की अभिव्यञ्जकशक्ति को बढ़ाने के लिए इसका होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। विज्ञान, दर्शन आदि सूक्ष्म विषयों पर मनन करने और पुस्तकें लिखने में हिन्दी की परिमित शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसके लिए तो संस्कृत के शब्द-भाण्डार को टटोलना ही पड़ेगा; अँगरेज़ी आदि सम्पन्न विदेशी भाषाओं से भी सहायता लेनी ही होगी। भाषा जाति का प्राण है; उसमें महाप्राणता लाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके विकास में किसी प्रकार की रुकावट न डाली जाय। जिस प्रकार प्राणिमात्र अपने परिपोष के लिए परिस्थिति से अनुकूल पदार्थों को लेकर अपने शरीर का अंग बना लेते हैं, उसी तरह भाषा को जीवित रखने और परिपुष्ट बनाने के लिए ज़रूरी है कि वह परिस्थिति से अपने उपयोगी शब्दों को लेकर अपने शरीर का अङ्ग बना ले। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है; वह यह कि विदेशी शब्दों को हिन्दी में लेते समय उनके रूपात्मक विकास के नियमों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इन नियमों का उल्लङ्घन करने से भाषा की पाचक शक्ति घटने लगती है और वह धीरे धीरे क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है या इतनी विकृत और विवर्ण हो जाती है कि फिर उसके वास्तविक स्वरूप का पता ही नहीं लग सकता।

विशेष करके अँगरेज़ी, फ़ारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी भाषा पर जो विदेशी प्रभाव पड़ा है उस पर विचार करने से पूर्व 'अर्धतत्सम', 'देशज' और 'अनुकरण' शब्दों का यहाँ पर उल्लेख किया जाता है। 'अर्धतत्सम' वे शब्द कहलाते हैं जो न तो तत्सम ही हैं और न तद्भव; किन्तु इन दोनों के बीच की अवस्था-विशेष को प्रकट करते हैं। नीचे के उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जावेगी—

तत्सम	अर्धतत्सम	तद्भव
वत्स	बच्छ	बच्चा
कार्य	कारज	काज
अक्षर	अच्छर	अक्खर, आखर।

'देशज' शब्दों से वे शब्द लिये जाते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता। जैसे तेंदुआ, खिड़की, ठेस इत्यादि।

'अनुकरण' शब्द प्रायः सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति कल्पित या वास्तविक ध्वनि से होती है। भाषा के विकास में सम्भवतः इन्हीं शब्दों का स्थान सबसे पहला है। इनके कतिपय उदाहरण ये हैं—काँव काँव, छम छम, खटखटाना, ठनठनाना, फड़फड़ाना इत्यादि।

तत्सम और तद्भव शब्दों में कहीं कहीं कुछ विशेषताएँ भी देखने में आती हैं। तत्सम शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त होता है तो उसी का तद्भव शब्द विशेष अर्थ में, जैसे गर्भिणी और गाभिन; कहीं तत्सम शब्द महत्ता का द्योतक होता है तो तद्भव लघुता का, जैसे दर्शन और देखना; कहीं दो अर्थों के वाचक एक शब्द के तत्सम और तद्भव में अलग अलग अर्थों की वाचकता आ जाती है, जैसे वंश और बाँस में। तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं, तत्सम से नहीं। किन्तु खड़ी बोली में तत्सम शब्दों से भी क्रियापद बनने लगे हैं। भाषा की अभिव्यञ्जक शक्ति को बढ़ाने और संक्षेप से भावों को प्रकट करने के लिए इन नवीन क्रियापदों का बनना स्वाभाविक ही है।

विदेशी प्रभाव

जब भिन्न जातियों का सम्पर्क होता है तब उनकी भाषाओं में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन हो ही जाता है। साहचर्य का प्रभाव भाषा और भावों पर पड़ जाता है। इसी नियम के अनुसार हमारी भाषा पर भारतवर्ष की आदिम भाषाओं और विदेशी भाषाओं का असर पड़ा है। हिन्दी के कई शब्द संस्कृत और प्राकृत के द्वारा द्राविड़ भाषा से आये हैं। 'गिली डण्डा' तामिल भाषा का शब्द है और महाराष्ट्री द्वारा हिन्दी में आया है। मुसलमानों की भाषा का तो इतना प्रभाव पड़ा है कि अरबी फ़ारसी के अनेकों शब्द बिलकुल साधारण बोलचाल के शब्द बन गये हैं। इसी प्रकार अँगरेज़ी के भी बहुत से शब्द, जिनमें

अधिकांश को तद्भव कहना उचित होगा, हिन्दी में मिल गये हैं। बोतल, बटन, डिगरी, स्कूल, मास्टर, अपील, डाक्टर इत्यादि अनेकों अँगरेज़ी के शब्दों को घरों में स्त्रियाँ और बच्चे तक बोलते और समझते हैं।

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा अनेक भाषाओं की खिचड़ी है किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इससे उसके गौरव में अन्तर पड़ता है। संसार की प्रायः सभी भाषाएँ इसी भाँति सम्मिश्रण से बनी हैं। अँगरेज़ी इतिहास पढ़नेवाले जानते हैं कि सर्वगुण-सम्पन्न अँगरेज़ी भाषा भी ऐसी ही खिचड़ी का फल है। नये भावों और नये विचारों को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों की दरकार होती है। यदि ऐसे शब्द अपनी भाषा में न हों तो उनको अन्य भाषाओं से लेने में कोई हानि नहीं। इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिन विदेशी शब्दों को ग्रहण करना आवश्यक है वे ऐसे स्वरूप में सन्निविष्ट हों कि जिससे भाषा के सौष्ठव में कमी न आवे।

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास-क्रम

हिन्दी के विकास-क्रम में पाँच परिस्फुट अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं जिनको क्रम से उसका उत्पत्तिकाल, निर्माण-काल, प्रौढ़काल, उत्तरकाल और आधुनिककाल कह सकते हैं।

(१) उत्पत्तिकाल (११००-१३००)

उत्पत्तिकाल के प्रधान और हिन्दी भाषा के आदि-कवि चन्द बरदाई समझे जाते हैं। ये बारहवें शतक के अन्त

और १२ वें शतक के आरम्भ में विद्यमान थे। जनश्रुति के अनुसार इन्होंने 'पृथ्वीराजरासो' नाम का एक बहुत बड़ा काव्य बनाया। यद्यपि 'पृथ्वीराजरासो' से पूर्व की कोई कविता इस समय, ग्रन्थ के रूप में, प्राप्य नहीं है तथापि उसकी रचना और वाक्‌सरणि से मालूम होता है कि उससे पहले भी हिन्दी में कविता हुई अवश्य होगी। अपभ्रंश भाषा से हिन्दी के इस विकासात्मक परिवर्तन में कम से कम **सौ डेढ़ सौ** वर्ष लग जाना कोई बड़ी बात नहीं है। कारण यह है कि यह समय राजनैतिक उलट-फेर का था। अराजकता और उससे होनेवाले अत्याचारों से साहित्यकला के विकास में विलम्ब होना स्वाभाविक है। अतएव हिन्दी के उत्पत्तिकाल को बारहवीं सदी के आरम्भ से मानने में कोई हानि नहीं। एक और प्रमाण से भी इस बात की पुष्टि होती है। हेमचन्द्र सूरि ने, जो ११४५ में पैदा हुए थे और १२२९ वि० में मरे, अपने व्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिये हैं उनमें और रासो की भाषा में कुछ साम्य पाया जाता है; ये उदाहरण अधिकांश अवतरण हैं जो निःसन्देह हेमचन्द्र से पहले बने होंगे। इससे भी सिद्ध होता है कि १२ वीं सदी के पूर्व ही अपभ्रंश भाषा हिन्दी के रङ्ग में ढलने लगी थी।

चन्द का पृथ्वीराजरासो वीर रस का काव्य है। शब्दों के तोड़-मरोड़ और कठोर वर्णों एवं द्वित्व अक्षरों के प्राचुर्य के कारण इसके काव्यांश में कुछ हीनता अवश्य आ गई है

किन्तु भाषा-विज्ञान और इतिहास की दृष्टि से यह एक अमूल्य रत्न है। यहाँ पर चन्द की कविता के कुछ अवतरण दिये जाते हैं—

"उच्चिष्ट छंद चंदह वयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥
पय सक्करी सुभत्तौ, एकत्तौ कनय राय भोयंसी।
कर कंसी गुज्जरीय, रब्वरियं नैव जीवन्ति॥
रब्वरियं रस मंदं, क्यू पुज्जति साध अमियेन।
उकति जुकत्तिय ग्रंथं, नथि कत्थ कवि कत्थियतेन॥"

ऐतिहासिक अनुसन्धान ने पृथ्वीराजरासो के समय के विषय में बहुत सन्देह उत्पन्न कर दिया है। जब से डाक्टर ब्यूलर को काश्मीर से पृथ्वीराज-विजय मिला है, जो कि पृथ्वीराज के समय में लिखा गया था, कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पृथ्वीराजरासो एक बहुत अर्वाचीन ग्रन्थ है।

(२) निर्माणकाल (१३००-१५००)

निर्माणकाल के कवि विद्यापति ठाकुर और अमीर ख़ुसरो १४ वें शतक में विद्यमान थे। ये दोनों बड़े विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुष थे। विद्यापति ठाकुर पूर्वी हिन्दी के और अमीर ख़ुसरो खड़ी बोली के कवि थे। इनकी हिन्दी और चन्द बरदाई की हिन्दी में आकाश-पाताल का अन्तर है। देखिए—

अमीर ख़ुसरो

"सरब सलोना सब गुन नीका।
वा बिन सब जग लागे फीका॥
वाके सर पर होवै कौन।
ऐ सखि, साजन ? ना सखि लौन॥"

विद्यापति ठाकुर

"मरम क वेदन मरमहि जान,
आन क दुख आन नहिं जान।
भनइ विद्यापति न पुरइ काम;
कि करति नागरि जाहि विधि वाम॥"

इस काल की कविता में प्राकृत का प्राधान्य है; किन्तु यह प्राकृत चन्द की संस्कृतनुमा प्राकृत नहीं है। इसमें स्वाभाविकता और स्वारस्य की झलक पद पद पर दिखाई देती है। भाषा का सहसा इतना परिमार्जित और सरस हो जाना सम्भव नहीं। यद्यपि चन्द बरदाई के बाद एक सौ वर्ष के अन्दर की कोई रचना इस समय उपलब्ध नहीं है तथापि विद्यापति और ख़ुसरो की कविता को देखकर कहना पड़ता है कि यह बीच का समय सुकृतियों से सर्वथा शून्य नहीं था।

(३) प्रौढ़काल (१५००--१७०० वि०)

हिन्दी के साहित्य में यह एक विलक्षण समय था। सूरदास, तुलसीदास, केशव, बिहारी इसी समय पैदा हुए। वास्तव में यही कवि-वर हमारे साहित्य-शरीर की आत्मा हैं।

इनको अलग कर देने पर हिन्दी-साहित्य में रह ही क्या जाता है? अस्तु। प्रौढ़काल का कविता-स्रोत दो धाराओं में बहा है। इस काल के पूर्वार्ध की कविता एक-ईश्वर-वाद के रङ्ग में रँगी हुई है। वह उच्च कोटि के भक्ति-मार्ग की कविता है; वेदान्त और भावुकता का अपूर्व सम्मिश्रण है; अद्वैत-वाद और सहृदयता का मनोहर एकीकरण है। कबीर और गुरु नानक इस कविता-कानन के प्रधान माली हैं। इनकी कविता में संन्यास-धर्म की झलक स्पष्ट दीखती है। सन्त-समागम और गुरु की महिमा का होना भी उसमें स्वाभाविक ही है। नीचे इनकी कविता का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

कबीर

यह जग अन्धा, मैं केहि समझावों,
　　इक दुइ होइ उन्हें समझावों।
सबही भुलाना पेट के धन्धा,
　　पानी के घोड़ा पवन असवरवा।
ढरकि परै जस ओस कै बुन्दा,
　　गहिरी नदिया अगम बहै धरवा।
खेवनहार पड़िगा फन्दा,
　　घर की वस्तु निकट नहिं आवत।
दियना बारिकै ढूँढ़त अन्धा,
　　लागी आग सकल बन जरिगा।

बिन गुरु ज्ञान भटकि गा बन्दा,
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
इक दिन जाय लँगोटी झार बन्दा।

नानक

बिसर गई सब तात पराई जब से साधू संगत पाई।
नहिं कोई वैरी नहिं बेगाना सकल संग हमरी बनि आई॥
जो प्रभु कीन्हों सो भला करि मानो यह सुमति साधू से पाई।
सबमें रम रहा प्रभु एकाकी पेख पेख "नानक" विगसाई॥

प्रौढ़काल के उत्तरवर्त्ती कवियों में सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, विहारीलाल, जायसी, रहीम आदि बहुत से हिन्दी-भाषा-विशारद महानुभाव हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रौढ़काल में कविता-स्रोत की दो धाराएँ हो चली थीं; इनमें निराकार अद्वैत भक्ति-वाद की धारा पूर्वार्ध में और साकार भक्ति-वाद की उत्तरार्ध में प्रबल थी। 'सौर काल' में भक्तों के प्रेमपूर्ण हृदय साकार ईश्वर का साक्षात् करने के लिए आतुर हो रहे थे। वे अपने प्रेमी का आँखों की ओट में रहना सहन नहीं कर सकते थे, उसको राम और कृष्ण के रूप में लीला करते हुए देखना चाहते थे; उसको सातवें आसमान से उतारकर पृथ्वी पर लाना चाहते थे। प्रेम, भावुकता, भक्ति और प्रतिभा का साथ बड़े पुण्य से होता है। हमारे सूरदास और तुलसीदास ऐसे ही पुण्यात्मा थे। इस पर भी व्रजभाषा के स्वाभाविक सौन्दर्य ने सोने में सुगन्धि का

काम दिया। इस कारण-कलाप के फल-स्वरूप सूरसागर और रामचरितमानस (रामायण) हैं। ये काव्य-सन्दर्भ हमारे साहित्य की शोभा हैं—उसके प्राण हैं। सूरदास और तुलसीदास के काव्यामृत का आस्वादन कराना सर्वथा इस छोटे से लेख की सीमा के बाहर है। वह तो स्वयं आद्योपान्त पढ़ने और अनुभव करने की वस्तु है।

केशव, विहारी, जायसी और रहीम भी इस समय के उत्कृष्ट कवि हैं। केशव ने अपने पाण्डित्य का कमाल दिखाया है तो विहारी ने शृङ्गार रस की पराकाष्ठा कर दी है। जायसी और रहीम ने मुसलमान होने पर भी हिन्दी में सुन्दर भावपूर्ण कविता की है। रहीम के दोहे तो इतने प्रसिद्ध हैं कि सर्वसाधारण तक बोलचाल में उनका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। जायसी का पद्मावत काव्य अब भी बड़े आदर से पढ़ा जाता है।

(४) उत्तरकाल (१७००—१८००)

उत्तरकाल के कवियों में भूषण, मतिराम, रसखान, पद्माकर, सुन्दरदास और देव हैं। इनमें भूषण ही सर्वोत्कृष्ट समझे जाते हैं। इन्होंने वीर रस की कविता लिखी है। इनकी भाषा ओजस्विनी किन्तु क्लिष्ट है। उसमें कुछ तो प्राचीनता की झलक है और कुछ खड़ी बोली की ओर उसकी प्रवृत्ति दीखती है।

(५) आधुनिक युग (१८०० —)

आधुनिक युग जागृति का युग है—आत्म-विस्मरण की विनाशकारिणी तन्द्रा से सचेत होने का कल्याण-पद समय है; पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है। विचार-स्वातन्त्र्य का पुनीत पाठ हमने पहले-पहल पश्चिम से ही सीखा। इसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी कुछ कम नहीं पड़ा। ऐसा होना स्वाभाविक ही था; विचार-क्षेत्र के विस्तीर्ण हो जाने से नई नई बातें सूझा ही करती हैं। अस्तु। हिन्दी में गद्य का आविर्भाव इसी समय में हुआ है। काव्य-कला ने भी नया रूप धारण किया है—केवल इस बात में नहीं कि काव्य-शरीर में परिवर्तन हुआ है, ब्रजभाषा को छोड़ कर खड़ी बोली में कविता की जाने लगी है, यद्यपि यह बात भी नये जीवन की ही सूचक है; किन्तु उसके "विषय" में भी परिवर्तन हुआ, मानव-प्रकृति को भी काव्य-कला में स्थान मिल गया—कल्पित नायक-नायिका के रूप में नहीं; नखशिख का वर्णन करने, आँखों और भौंहों के लिए उपमाएँ ढूँढ़ने में नहीं; किन्तु मानव हृदय के अन्तस्तल को टटोलकर काग़ज़ पर रखने में; मनोविज्ञान के नियमों की अवहेलना न करके हार्दिक भावनाओं और मनोविकारों का सही चित्र उतारने में।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस नये युग के प्रवर्त्तक हैं। इनकी कुछ रचनायें हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की काया पलट दी। इन्हीं ने हिन्दी-साहित्य के नये

आदर्श का सूत्रपात किया। इनके अतिरिक्त लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आरम्भ में प्रसिद्ध नाम हैं।

इस नये युग में हिन्दी के गद्यात्मक साहित्य के विकास के साथ ही खड़ी बोली को यह भी सौभाग्य प्राप्त हुआ कि अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शङ्कर शर्मा और श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक महानुभावों ने उसमें अच्छे अच्छे सरस काव्यों की रचना करके उसको कविता की भाषा बना दिया है। इस परिवर्तन के, व्रजभाषा को छोड़कर हिन्दी में कविता करने के, कई कारण हैं। इनमें सबसे मुख्य कारण है खड़ी बोली की सार्वजनिकता। व्रजभाषा निस्सन्देह अनेक गुण-सम्पन्न और खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत ज़्यादा समृद्ध है किन्तु इससे क्या? उसकी प्रचार-सीमा इतनी संकुचित है कि सर्व-साधारण को उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता। इसके विपरीत खड़ी बोली का प्रसार सर्वसाधारण तक है, अतएव वह इस समय जनता की स्वाभाविक भाषा है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्रजभाषा का बहिष्कार ही कर दिया गया है। किन्तु उसकी प्रान्तिकता को दूर करने और गद्य-पद्य की भाषा को एक बनाने के लिए यह प्रयास है।

आधुनिक साहित्य में पण्डित श्रीधर पाठक, श्रीजगन्नाथ-दास रत्नाकर, श्रीदेवीप्रसाद पूर्ण, श्रीसत्यनारायण, लाला सीताराम आदि की रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। पण्डित

श्रीधर पाठक आधुनिक समय की खड़ी बोली की कविता के प्रवर्त्तक हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने उसमें विशेष सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

कुछ समय से हिन्दी में अन्त्यानुप्रास-रहित कविता भी होने लगी है।

हिन्दी गद्य का विकास

गद्य बोलचाल की स्वाभाविक भाषा है—अनायास ही धारा-प्रवाह रूप से भावों को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन है—वैज्ञानिक मस्तिष्क की नैसर्गिक, सारग्राहिणी प्रवृत्ति का फल-स्वरूप है। गद्य जाति की व्यापक भाषा है, पद्य व्यक्ति-विशेष की साहित्यिक भाषा है—बोलचाल की नहीं। सच तो यह है कि पद्य कल्पना-जगत् की और गद्य वास्तविक जगत् की भाषा है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक काल से पहले हमारे साहित्य में गद्य का एक-दम अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है? क्या सौ सवा सौ वर्षों से पहले हिन्दी का गद्य था ही नहीं?

आधुनिक काल से पूर्व गद्य था तो सही किन्तु वह प्रान्तिकता के रङ्ग में रँगा हुआ था और उसने कोई विशेष साहित्यिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया। हिन्दी गद्य के अभाव के कई कारण हैं। उस समय का जीवन ही कुछ निराला था। वह स्वप्नदर्शिता और अकर्मण्यता का ज़माना था, माया-वाद और विचार-पारतन्त्र्य का युग था; प्रतिभा और पाण्डित्य

सब कविता पर न्यौछावर थे ! हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति डाँवाडोल थी; भारत को एकता के सूत्र में बाँधनेवाले साधनों का सर्वथा अभाव था। सारांश, उस जातीय और सामाजिक परिस्थिति का बिलकुल अभाव था जिसमें परिपुष्ट होकर गद्य फूलता और फलता है।

"पद्य की अपेक्षा गद्य का सम्बन्ध जन-समाज से अधिक है। गद्य समाज की स्वाभाविक भाषा है और पद्य में कृत्रिमता अवश्य रहती है। इसी लिए जब जन-समाज को शिक्षा देने के लिए साहित्य की सृष्टि होती है तब गद्य का ही आश्रय लिया जाता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य होने से जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ा, तब गद्यात्मक साहित्य की भी वृद्धि हुई।" जिस प्रकार खड़ी बोली को व्यापक भाषा बनाने का श्रेय मुसलमानों को है उसी प्रकार उसके साहित्यिक रूप में आने और उन्नति-पथ पर अग्रसर होने का श्रेय अँगरेज़ों को है, जिनके सम्पर्क से हमको पहले-पहल पाश्चात्य रहन-सहन का दिग्दर्शन हुआ है। पश्चिम से हमने विचार-स्वातन्त्र्य का पुनीत पाठ पढ़ा; हमारी आँखें खुलीं; एक नया युग हमारे सामने आकर उपस्थित हो गया; अन्य बातों के साथ साथ हमारी भाषा और भावों ने भी पलटा खाया; हमारे आत्मोत्थान के साथ ही हमारी खड़ी बोली ने भी अपना नाम चरितार्थ किया।

अस्तु। हिन्दी के आदि गद्य-लेखक लल्लूलालजी समझे जाते हैं; इन्होंने हिन्दी का 'प्रेमसागर' लिखा, जिसमें भागवत

के दशम स्कन्ध की कथा वर्णित है और जो अब तक बड़े आदर से पढ़ा जाता है। इनकी हिन्दी का एक नमूना यहाँ पर दिया जाता है—

"महाराज ! राम-कृष्ण के आते ही शतधन्वा अति भय खाय मन ही मन यह कहता था कि पराये कहे मैंने श्रीकृष्ण से बैर किया; अब शरण किसकी लूँ ? कृतवर्मा के पास आया; और हाथ जोड़ अति विनती कर बोला, कि महाराज ! आपके कहे से मैंने किया यह काम, मुझ पर कोपे हैं श्रीकृष्ण और बलराम । इससे मैं भागकर तुम्हारी शरण आया हूँ; मुझे कहीं रहने को ठौर बताइए।"

हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य की अधिक उन्नति हुई। गद्यसाहित्य में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित श्यामविहारी मिश्र, बाबू प्रेमचन्द, पण्डित पद्मसिंह शर्मा आदि विद्वानों ने विशेष यश अर्जित किया है। इन्हीं के निर्दिष्ट पथ पर हिन्दी-साहित्य चला जा रहा है।

हिन्दी की उपभाषाएँ

राजस्थानी, अवधी, बुँदेली, व्रजभाषा और खड़ी बोली, ये सभी हिन्दी की उपभाषाएँ हैं।

राजस्थानी आधुनिक हिन्दी से बहुत भिन्न है। इस पर गुजराती भाषा का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। कुछ अक्षरों के उच्चारण में भी भेद है; छ का उच्चारण स से मिलता-

जुलता है और स के स्थान में ह बोला जाता है। आ, ए, ऐ और ओ के उच्चारण में भी कुछ भिन्नता है। कारक, क्रिया, सर्वनामसम्बन्धी और भी कई विशेषताएँ उसमें पाई जाती हैं। राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इनके अनेक भेद और उपभेद हैं।

अवधी भाषा 'अर्धमागधी' से निकली है। यह भाषा अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर, और मध्यप्रदेश के कई भागों में बोली जाती है। इसको पूर्वी हिन्दी भी कहते हैं। इसकी तीन शाखाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। हिन्दी-साहित्य में अवधी भाषा ने एक बहुत उच्च स्थान प्राप्त किया है। मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास ने उसको कविता के रङ्ग में रँगकर अमर कर दिया है। जायसी की भाषा शुद्ध अवधी है; तुलसीदास ने उसको बड़ी सफलता के साथ साहित्यिक रूप देने का उद्योग किया है। व्रजभाषा से अवधी का बहुत कुछ साम्य है।

बुँदेली भाषा व्रजभाषा की एक शाखा है। बुँदेलखण्ड, ग्वालियर और मध्यप्रदेश के कुछ ज़िलों में इसका प्रचार है। केशव ने कई स्थलों पर अपनी कविता में इसका प्रयोग किया है।

व्रजभाषा

शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश से व्रजभाषा निकली है। इसका केन्द्र व्रजमण्डल है। थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ यह दक्षिण की ओर आगरा, भरतपुर, धौलपुर

और करौली में, ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में, उत्तर की ओर गुड़गाँव ज़िले के पूर्वी भाग तक और उत्तर-पूर्व की ओर बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊँ, बरेली होते हुए नैनीताल की तराई तक बोली जाती है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारान्त पुँल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूतकृदन्त तथा कहीं कहीं वर्तमान कृदन्त भी ओकारान्त होते हैं, जैसे घोड़ो, चल्यो, कियो इत्यादि। इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं; कुछ शब्दों के अन्त में स्वार्थ में 'रा' आदि लगते हैं। जैसे हियरा, जियरा, बदरा, लला, कन्हैया इत्यादि। व्रजभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक-चिह्न खड़ी बोली और अवधी से भिन्न हैं। इसी तरह सर्वनाम और भिन्न-भिन्न काल की क्रियाओं के रूपों में भी भेद पाया जाता है।

व्रजभाषा में लालित्य की प्रधानता है। शृंगार, करुणा, हास्य आदि कोमल रसों के वर्णन करने की क्षमता उसमें अत्यधिक है। वह प्रधानतया कविता की भाषा है; किन्तु बोलचाल अथवा गद्य की भाषा की क्षमता उसमें नहीं है। यह भी एक कारण है कि इस बात में वह खड़ी बोली से पिछड़ गई है। हिन्दी में शृंगार रस की कविता के बाहुल्य का यह भी एक कारण हो सकता है कि व्रजभाषा में कुछ स्वाभाविक शक्ति ही ऐसी है कि वह नाज़ुक ख़याली को पैदा करती है। भाषा और भावों का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है।

खड़ी बोली

खड़ी बोली आरम्भ में मेरठ और उसके आस पास के प्रदेश में बोली जाती थी। जब मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में अपना राज्य स्थापित कर लिया और वे यहाँ बस गये तो उनको एक ऐसी भाषा की आवश्यकता पड़ी जिसके द्वारा विचार-विनिमय हो सके। इस काम के लिए यही खड़ी बोली उपयुक्त समझी गई। मुसलमानों के राज्य-विस्तार के साथ साथ उसका भी प्रसार होने लगा—वह प्रादेशिक भाषा से देश-व्यापक भाषा बन गई। अरबी और फ़ारसी के शब्द उसमें पहले तो तद्भव और फिर तत्सम रूप में मिलने लगे। कालान्तर में इसकी दो शाखाएँ हो गईं—खड़ी बोली और उर्दू। पहले पहल खड़ी बोली और उर्दू में इतना ही भेद था कि खड़ी बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों की और उर्दू में अरबी और फ़ारसी के शब्दों की भरमार होने लगी किन्तु धीरे धीरे उर्दू का व्याकरण भी फ़ारसी के ढङ्ग पर ढलने लगा। इस प्रकार खड़ी बोली से उत्पन्न होकर और उसी के द्वारा परिपुष्ट होकर आख़िर उर्दू भाषा पृथक् हो गई।

खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर ख़ुसरो हुआ, जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु सं० १३८१ में हुई। "ख़ुसरो ने हिन्दी और अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने और हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर भाव विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश से ख़ालिक़ बारी नाम का एक कोष भी पद्य

में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर ख़ुसरो खड़ी बोली के आदि-कवि ही नहीं हैं, वरन् इन्होंने हिन्दी तथा अरबी-फ़ारसी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई थी।''

हिन्दी भाषा के प्रति अमीर ख़ुसरो की जो धारणा थी वह भी जानने योग्य है। इस विषय में बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपने ''भाषा-विज्ञान'' में एक अवतरण दिया है, उसको यहाँ पर उद्धृत करना समुचित जान पड़ता है। ख़ुसरो का कथन है—''मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती। पर फ़ारसी में यह कमी है कि बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिन्दी भाषा भी

अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है।''

यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि जो लोग यह कहा करते हैं कि उर्दू-रचना से अरबी-फ़ारसी के तत्सम और तद्भव निकालकर और उनके स्थान में संस्कृत के तत्सम और तद्भव रखकर हिन्दी बनाई गई वे भारी भूल करते हैं। यह कहना भी सर्वथा भ्रम-मूलक है कि खड़ी बोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई है। ब्रजभाषा और अवधी की तरह वह भी एक स्वतन्त्र भाषा है।

वर्तमान समय में एक और भाषा को जन्म मिला है। इस नवजात भाषा का नाम हिन्दोस्तानी है और इसके जन्मदाता अँगरेज़ हैं। यह प्रचलित हिन्दी और प्रचलित उर्दू की खिचड़ी है और हिन्दी के व्याकरण के अनुशासन के अनुसार इसका विकास हो रहा है। यह अभी केवल बोलचाल की भाषा है। कहा नहीं जा सकता कि इसका भविष्य क्या होगा।

हिन्दी और वैष्णव

अवधी और ब्रजभाषा, जिनसे हिन्दी का कलेवर परिवर्द्धित और परिपुष्ट हुआ है, राम और कृष्ण की विहारस्थली की भाषाएँ थीं; उनसे वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तों का प्रेम होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि राम और कृष्ण ही इनके उपास्य देव हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों ने इस भाषा-रूपी पौधे को अपने उपदेशामृत से पल्लवित किया और सूर-

दास तथा तुलसीदास ने अपने-अपने काव्यामृत से उसको पुष्पित और फलित किया है। सूरसागर और रामायण हमारे साहित्य के अमूल्य रत्न हैं, उसकी शाश्वतिक सम्पत्ति हैं। सारांश यह कि हिन्दी के द्वारा वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ और वैष्णव धर्म के द्वारा हिन्दी भाषा की श्री-वृद्धि हुई है।

हिन्दी और मुसलमान

पारस्परिक अनबन और हिंसा-प्रतिहिंसा के इस युग में बहुत से लोग यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में मुसलमानों का भी हाथ है। मुसलमानी शासन के आरम्भ से ही इनका हिन्दी के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हिन्दी भाषा के आदि-कवि चन्द बरदाई के समय से ही कुछ सहृदय मुसलमान भी हिन्दी में कविता करने लगे थे, इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। विक्रम-संवत् के चौदहवें शतक में अमीर ख़ुसरो ने अरबी फ़ारसी और हिन्दी का एक कोष बनाया और सरल हृदयङ्गम हिन्दी में बहुत सी पहेलियाँ और प्रेम-कविताएँ बनाईं। इस महानुभाव ने तो यहाँ तक कह दिया कि हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है!

सोलहवीं शताब्दी में कुतबन शेख़ ने पद्य में "मृगावती" नाम की एक प्रणय-कथा लिखी। इस कवि का आश्रय-दाता शेरशाह सूर का पिता हुसैनशाह था। इससे अनुमान कर सकते हैं कि उस समय के मुसलमान हिन्दी के कवियों का कितना आदर करते थे। मलिक मुहम्मद जायसी भी इसी

समय में हुए थे। इनका पद्मावत काव्य हिन्दी के साहित्य में एक आदर की वस्तु है। पुण्य-श्लोका महारानी पद्मिनी की कथा को लेकर यह काव्य रचा गया है। स्थानों, मनुष्यों और घटनाओं के उसमें ख़ूब हृद् वर्णन दिये हैं जिनमें देश की स्थिति का बड़ा विशद चित्र उतारा है और जिनसे तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक जीवन का अच्छा परिचय मिलता है।

सम्राट् अकबर के शान्ति-प्रद शासन-काल में हिन्दी ने जो उत्कर्ष प्राप्त किया उसको तुलसीदास की रामायण को पढ़नेवाले जानते ही हैं। अकबर स्वयं हिन्दी में कविता किया करता था। उसके दरबार में हिन्दी-कवियों और गवैयों का बड़ा आदर था। उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सभी ने हिन्दी पढ़ी और प्रायः सभी के शासन-काल में हिन्दी के कवियों ने ख़ूब प्रतिष्ठा और सम्पत्ति प्राप्त की। शाहजहाँ का बड़ा लड़का दारा हिन्दी और संस्कृत का इतना विद्वान हुआ कि उसने उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में उल्था किया।

अकबर की सभा के नवरत्नों में अब्दुल रहीम सबसे प्रसिद्ध थे। यद्यपि ये शाही सेना के सेनापति थे, तथापि इनकी काव्य-प्रतिभा कुछ कम न थी। रहीम के दोहों से हिन्दी जाननेवाले प्रायः सभी परिचित होंगे। बिहारी के दोहों के बाद इन्हीं के दोहों का नम्बर है। इनके उपदेश इतने सुन्दर हैं कि वे एक-दम हृदय में स्थान कर लेते हैं। देखिए:—

"रहिमन निज मन की व्यथा, मनही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय॥"

ये निरे कवि ही न थे, पौराणिक-गाथाओं के भी पण्डित थे, यह बात यत्र तत्र इनके दोहों से स्पष्ट है—

"रहिमन माँगत बड़ेन की, लघुता होत अनूप।
बलि-मख माँगन हरि गये, धरि बावन को रूप॥"

१७ वीं शताब्दी में रसखान (देहली-निवासी एक पठान) ने 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजन रसखान' लिखे। देखिए, कृष्ण की विहार-भूमि व्रज के प्रति अनुरक्ति की यह कितनी सुन्दर कविता है—

मानुष हौं तो वही रसखान
बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को
जो बन्यो व्रज छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
वही कालिंदी-कूल-कदम्ब की डारन॥

१७ वीं और १८ वीं शताब्दी में और भी कई मुसलमान कवि हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी में सुन्दर सरस कविता की।

मुसलमानों ने सब तरह से हिन्दी भाषा के प्रसार में योग दिया। प्रान्तिक भाषा से उन्होंने उसको देशव्यापक भाषा

बनाने में एक प्रकार से प्रचारक का काम किया। भारत में जहाँ कहीं वे फैले, खड़ी बोली को भी साथ लेते गये। मुसलमानी राज्य की समृद्धि के साथ-साथ हिन्दी की भी श्री-वृद्धि हुई, और एक बार उसके अधःपतन के साथ हिन्दी का भी रङ्ग फीका पड़ गया था।

दिनों का फेर कहिए अथवा भारत के दुर्दिन। जहाँ थोड़े ही समय पहले इस प्रकार पारस्परिक सहानुभूति थी कि विजेताओं ने विजितों की भाषा को अपनाया, उनके कवियों और विद्वानों को आदर और शाही अनुग्रह का भाजन बनाया और स्वयं उनकी भाषा को पढ़कर चिरस्मरणीय कवियों को पैदा किया, वहीं आज पारस्परिक द्वेष और प्रतिहिंसा ने स्थान कर रक्खा है!

हिन्दी-काव्य-मञ्जरी

विषय-सूची

हिन्दी-काव्य-मञ्जरी

सूरदास

हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि सूरदास कब और किस वंश में पैदा हुए, यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भवतः संवत् १५४० वि० में जन्म लेकर इस महाकवि ने भारत-भूमि को कृतकृत्य किया था और सं० १६२० में ये परलोक को सिधारे। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके जन्म-स्थान के विषय में भी मतभेद है। कोई कहते हैं कि आगरा के समीप 'रुनकता' गाँव में इनका जन्म हुआ था और किन्हीं के मत से देहली के पास का 'सिही' गाँव इनका जन्म-स्थान है।

बाल्यकाल ही से सूरदासजी घर छोड़कर वृन्दावन में रहने लगे थे। कुछ तो पिछले जन्म के संस्कारों के कारण और कुछ साधु-समागम होने से इनकी भगवद्भक्ति और कविता-प्रेम इतना बढ़ा कि धीरे-धीरे गुणज्ञ लोग इनकी तरफ़ आकर्षित होने लगे। यह सूरदास की अगाध भगवद्भक्ति ही थी कि महाप्रभु वल्लभाचार्य इन पर मुग्ध हुए थे। सूरदासजी

गौघाट में, जो मथुरा और आगरा के बीच में है, रहते थे। एक समय महाप्रभुजी गौघाट गये और सूरदास पर प्रसन्न होकर गोकुल जाते समय इनको साथ ले गये। गोकुल में आचार्य-वर ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया और भागवत के सारे रहस्य इनको समझा दिये। सूरदास जितने भगवद्भक्त थे उतने ही गुरु-भक्त भी। 'संक्षिप्त सूरसागर' में इनकी गुरु-भक्ति का एक बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है—

एक समय किसी वैष्णव ने पूछा—"क्यों, सूरदास! तुमने सवा लक्ष पद तो रचे किन्तु अपने गुरु-देव पर एक भी पंक्ति नहीं लिखी! इसका क्या कारण है?" सूरदासजी ने प्रेमपुलकित होकर कहा—"भैया, मैंने समग्र सूरसागर में श्री-गुरु-देव ही का कीर्तन किया है। क्या गुरु गोविन्द में कुछ अन्तर है?" फिर आपने उस समय यह पद कहा—

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ-नखचन्द-छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुबिध आँधरो, बिना मोल को चेरो।"

अर्थात् इन्हीं गुरु-चरणों का तो सब सहारा है। गुरुवर श्रीवल्लभाचार्य के नख (चरण-नख)-रूपी चन्द्रमा के प्रकाश के बिना मेरे लिए सम्पूर्ण संसार अन्धकारमय है। इस कलियुग में और साधन ही क्या रह जाता है कि जिससे मेरा निस्तार हो? अन्धा तो था ही, ज्ञान का प्रकाश न होने से

बाहर-भीतर दोनों ओर अन्धकार हो जाता फिर तो मेरी कोई गति न थी—बिना मोल का दास बना फिरता ! भारतीय गुरु-भक्ति का कितना ऊँचा आदर्श है ! भावपूर्ण हृदयोद्गारों का कैसा सुन्दर चित्र है !

कहा जाता है कि सूरदास जन्म के अन्धे थे किन्तु इस सम्बन्ध में 'हिन्दी-नवरत्न' में जो विवेचन किया गया है वह बहुत कुछ समुचित मालूम होता है—"सूरदास ने अपनी कविता में रङ्गों के, ज्योति के, और अनेकानेक हाव-भावों के ऐसे ऐसे मनोरम वर्णन किये हैं और उपमाएँ ऐसी ऐसी उत्तम कही हैं कि यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों देखे ऐसा वर्णन केवल श्रवण-द्वारा प्राप्त ज्ञान से कर सकता है।" कम से कम इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि जन्म के बाद कुछ काल तक सूरदास चक्षुहीन नहीं थे। सम्भव है, अँगरेज़ी भाषा के विख्यात कवि मिल्टन की भाँति प्रौढ़ा अवस्था में ये अन्धे हुए हों। इस सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ भी पाई जाती हैं। कहते हैं, एक समय सूरदासजी किसी युवती पर मोहित हो गये। बड़ी देर तक टकटकी बाँधे उसकी तरफ़ देखते रहे। आख़िर उस युवती ने निकट आकर पूछा—महाराज, क्या आज्ञा है ? सूरदासजी मन ही मन बड़े लज्जित हुए। उस स्त्री से वचन लेकर कहा—दो सुइयों से मेरी दोनों आँखें फोड़ डालो। स्त्री ने वैसा ही किया और उसी दिन से वे अन्धे हो गये।

सूरदासजी की लिखी हुई सभी पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। केवल सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी ये तीन पुस्तकें प्राप्य हैं। इनमें भी सूरसागर अविकल रूप से नहीं मिलता—सवा लाख पदों में से दसवाँ हिस्सा भी उपलब्ध नहीं।

कवित्व-विवेचन

भाषा और भावों के स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण कभी कभी सूरदास की तुलना आदि-कवि वाल्मीकि से की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास की कविता में वह मोहनी शक्ति है—वह लोकोत्तर चमत्कार भरा है जिससे सहृदयों के हृदय सुनते ही गद्गद हो जाते हैं; तबीयत फड़क उठती है; अन्तरात्मा ब्रह्मानन्द में हिलोरें लेने लगता है। किसी ने ठीक ही कहा है—"सूर-कवित सुनि कौन कवि, जो नहि सिर चालन करे।"

कथानक है कि एक मनुष्य कहीं पर व्याकुल पड़ा हुआ था, उसी मार्ग से एक दूसरा मनुष्य निकला और उससे पूछने लगा—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर॥"

कथानक काल्पनिक है या वास्तविक, इससे यहाँ पर कोई प्रयोजन नहीं; प्रयोजन है केवल उसके रहस्य को समझने का। सूर के पदों में सचमुच वह आकर्षिणी शक्ति है कि जिससे

पढ़ने अथवा सुननेवाला तन्मय हो जाता है। उसको अपनी सुध ही नहीं रहती, वह कविता के रस में निमग्न होकर एक अलौकिक आनन्ददायिनी सुषुप्ति का अनुभव करने लगता है। ईश्वर-भक्ति का जिसे सच्चा आस्वाद लेना हो वह सूरदास की कविता पढ़े।

जिस प्रकार तुलसीदासजी ने राम-भक्त होने से वाल्मीकि रामायण पढ़कर हिन्दी में 'रामचरितमानस' की रचना की है उसी तरह सूरदासजी ने कृष्ण-भक्त होने से भागवत के रहस्यों को समझकर सूरसागर लिखा है। वैष्णव-सम्प्रदाय के भक्ति-सम्बन्धी साहित्य में यह एक विशेषता है कि वे लोग ईश्वर के प्रेम को स्त्री के प्रेम के समान मानते हैं। यही कारण है कि सूरसागर आदि वैष्णव-सम्प्रदाय की पुस्तकों में जहाँ तहाँ शृङ्गार को स्थान मिला है और सूरदास ने तो उसको सीमा तक ही पहुँचा दिया है। कभी कभी लोग इन पर शृङ्गार की अतिशयता के कारण अश्लीलता का आक्षेप भी करते हैं। किन्तु शृङ्गार वास्तव में ऐसी हेय वस्तु नहीं है। और इसके अतिरिक्त सूरदास के आन्तरिक भाव तो भक्ति से सने थे।

सूरदास की यों तो सारी ही कविता सरस और सुन्दर है किन्तु दशम स्कन्ध की कथा को उन्होंने अत्यन्त रोचकता के साथ लिखा है। इसके विचार बड़े मार्मगर्भित और ललित हैं जिनसे सूरदासजी की सच्ची भगवद्भक्ति और कवित्व-शक्ति का पूरा-पूरा पता चलता है। बाल-क्रीड़ा और उद्धव-गोपी-

संवाद में तो कवि ने एक-दम अपूर्व कौशल दिखलाया है; स्वारस्य (natural elegance) और सरसता, सरलता और स्वाभाविकता, भाव-सन्निवेश और विचार-प्रौढ़ता को बड़े ही अनूठे ढँग से एकत्र किया है। पहले कह आये हैं कि सूरदास की कविता शृङ्गार-रस-प्रधान है। साथ ही इनकी कविता में यह भी देखा जाता है कि इन्होंने जिस भाव या विचार को कविता के रङ्ग में रँगा उसको ख़ूब ही खोलकर सामने रखा है; कोई बात छोड़ी नहीं। इस पर कुछ लोग असन्तोष प्रकट करते हैं। इन लोगों की दृष्टि में पहले तो यही एक बड़ा दोष है कि शृङ्गार की अतिशयता की जाय; उस पर भी भावों को इतनी पूर्णता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करना कि पढ़ने अथवा सुननेवाले की कल्पना-शक्ति पर कुछ ज़ोर ही न पड़े; मानो कविता के सौन्दर्य को कम करके उसे और भी दूषित बनाना है। वर्णन-विस्तार के भय से इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी बात को फैलाकर कहना वहाँ अरोचक और फीका लगता है जहाँ चमत्कार न हो। किन्तु सूरदास की कविता में तो यह चमत्कार पद पद पर झलकता है।

चरन-कमल बन्दौं हरि राई।

जाकी कृपा पङ्गु गिरि लङ्घै, अन्धे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रङ्क चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौं तिहिं पाई॥१॥

१ राई—राजा। पङ्गु—लँगड़ा। गिरि—पहाड़। मूक—गूँगा॥

जापर दीनानाथ ढरे।
सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ, जिन पर कृपा करे ॥
राजा कौन बड़ो रावन तें, गर्वहिं गर्व गरे।
रङ्क सु कौन सुदामाहू तें, आपु समान करे ॥
रूपव कौन अधिक सीता तें, जन्म वियोग भरे।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें, हरि पति पाइ बरे ॥
जोगी कौन बड़ो शङ्कर तें, ताको काम छरे।
कौन विरक्त अधिक नारद सों, निसि दिन भ्रमत फिरे ॥
अधम सो कौन अजामिलहू तें, जम तहँ जात डरे।
सूरदास भगवन्त भजन बिन, फिर फिर जठर जरे ॥२॥

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पै आवै ॥
कमल-नैन को छाँड़ि महातम, और देव को पावै।
परम गङ्ग को छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अम्बुज-रस चाख्यो, क्यों करील-फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥३॥

रङ्क—गरीब । धराई—धारण कर । तिहिं—तिनके । पाई—चरण ॥

२ ढरे—ढले, कृपा की। गरे—गले, नष्ट हुए। रूपव—रूपवती। बरे—ब्याह किया, प्रेम लगाया। छरे—छले, मोहित करे। निसि—रात। जठर—शरीर। जरे—जले ॥

३ अनत—अन्य स्थान पर। पंछी—पक्षी। कमल-नैन—विष्णु। महातम—माहात्म्य, सेवा पूजा। कूप—कुआं। खनावै—

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तै काज लाज हिय धरि के, पाइँ पयादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो मम भक्त सौं बैर करत है, सो निज बैरी मेरो।
देखि विचारि भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की, हारे हारि विचारौं।
सूरदास सुनि भक्त, विरोधी, चक्र सुदर्सन जारौं॥४॥

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो हि नीर भरो।
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
पारस गुन-अवगुन नहिं चितवै कञ्चन करत खरो॥
यह माया भ्रमजाल कहावै सूरदास सगरो।
अबकी बार मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥५॥

खोदना है। मधुकर—भौंरा। अम्बुज—कमल। छेरी—बकरी। करील—करीर, कांटेदार झाड़ी॥

४ व्रत—प्रण। भक्तै—भक्त ही के। हिये—हृदय में। पयादे—पैदल ही। धाऊँ—दौड़ूँ। भीर—आपत्ति। जारौं—जला देता हूँ॥

५ समदरसी—समदर्शी, सबको एक समान समझनेवाला।

मेरी प्रतिज्ञा रहै कि जाउ।
इत पारथ कोप्यो है हम पर, उत भीषम भटराउ ॥
रथ ते उतरि चक्र धरि कर प्रभु, सुभटहिं सन्मुख आये।
ज्यों कन्दर ते निकसि सिंह झुकि, गजयूथनि पर धाये ॥
आइ निकट श्रीनाथ विचारी, परी तिलक पर दीठि।
सीतल भई चक्र की ज्वाला, हरि हँसि दीन्हीं पीठि ॥
जय जय चिन्तामनिस्वामी, संतनुसुत यों भाखै।
तुम बिन ऐसो कौन दूसरो, जो मेरो प्रन राखै ॥
साधु साधु सुरसरीसुवन तुम, मैं प्रन लागि डराऊँ।
सूरजदास भक्त दोनों दिसि, का पर चक्र चलाऊँ ॥६॥

जग में जीवत ही को नातो।
मन बिछुरे तनु छार होइगो, कोउ न बात पुछातो ॥

तिहारो—तुम्हारा। नीर—जल। बरन—वर्ण, रङ्ग। सुरसरि—गङ्गा। बधिक—कसाई। कञ्चन—सोना ॥

६ प्रतिज्ञा—कृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध के समय निःशस्त्र रहूँगा, परन्तु उन्हें भीष्म के सामने चक्र उठाना पड़ा था। इत—इधर। पारथ—अर्जुन। कोप्यो—क्रुद्ध हुआ। उत—उधर। भटराउ—वीरों का राजा। कन्दर—पर्वत की गुफा। यूथनि—समूहों। श्रीनाथ—लक्ष्मी के स्वामी, कृष्ण। दीठि—दृष्टि। दीन्हीं पीठि—पीठ दिखा दी, हार मान ली। चिन्तामनि—कृष्ण की अमूल्य मणि का नाम। संतनुसुत—शान्तनु का पुत्र, भीष्म। भाखै—बोले। साधु-साधु—धन्य-धन्य। सुरसरीसुवन—गङ्गा का पुत्र, भीष्म। दिसि—दिशा में। का पर—किस पर ॥

मैं मेरी कबहूँ नहिँ कीजै, कीजै पञ्च सुहातो।
विषय असक्त रहत निसि बासर, सुख सीरो दुख तातो॥
साँच झूँठि कर माया जोरी, आपुन रूखो खातो।
सूरदास कछु थिर नहिँ रहई, जो आयो सो जातो॥७॥

छाँड़ि मन हरि-बिमुखन को सङ्ग।
जिनके सङ्ग कुबुधि उपजत है परत भजन में भङ्ग॥
कहा होत पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजङ्ग।
कागहिँ कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गङ्ग॥
खर को कहा अरगजा लेपन, मर्कट भूषन अङ्ग।
गज को कहा न्हवायं सरिता, बहुरि धरहि खहि छङ्ग॥
पाहन पतित बान नहिँ बेधत, रीतो करत निखङ्ग।
सूरदास खल कारी कामरि, चढ़त न दूजो रङ्ग॥८॥

---

७ नातो—नाता, सम्बन्ध। बिछुरे—बिछुड़ने पर। छार—भस्म। पुछातो—पूछनेवाला। पञ्च सुहातो—सबको अच्छे लगनेवाले कार्य्य। असक्त—आसक्त, फँसा हुआ। बासर—दिन। सीरो—ठण्डा। तातो—गरम। जोरी—जोड़ी। थिर—स्थिर।

८ उपजत—पैदा होती। परत—पड़ता है। भङ्ग—विघ्न॥ कहा—क्या। पय—दूध। तजत—छोड़ता। भुजङ्ग—सर्प। काग—कौआ। स्वान—कुत्ता। खर—गधा। अरगजा लेपन—चन्दन आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप। मर्कट—बन्दर। खहि—धूल। छङ्ग—मस्तक। पाहन—पत्थर। रीतो—खाली। निखङ्ग—तरकस। खल—शरारती। कारी—काली। कामरी—कम्बल॥

सबै दिन एकै से नहिँ जात।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को, जब लगि तन कुसलात॥
कबहूँ कमला चपला पाकै, टेढ़े टेढ़े जात॥
कबहुँक मग मग धूरि टटोरत, भोजन को बिलखात॥
या देही के गर्व बावरो, तदपि फिरत इतरात।
बाद बिवाद सबै दिन बीते, खेलत ही अरु खात॥
हौं बड़ हौं बड़ बहुत कहावत, सूधे कहत न बात।
योग न युक्ति ध्यान नहिँ पूजा, वृद्ध भये अकुलात॥
बालापन खेलत ही खोयो, तरुनापन अलसात।
सूरदास औसर के बीते, रहि हो पुनि पछितात॥९॥

तुअ मुख देखि डरत ससि भारी।
कर करि कै हरि हेर्यो चाहत, भाजि पताल गयो अपहारी॥
वह ससि तो कैसेहु नहिं आवत, यह ऐसी कछु बुद्धि विचारी।
बदन देखि बिधु बिधि सकात मन, नैन कुञ्ज कुण्डल उजियारी॥

९ एकै—एक ही। जब लगि—जब तक। कुसलात—कुशल है। कमला—लक्ष्मी, धन। चपला—चञ्चल। मग—मार्ग। बिलखात—रोते हैं, तरसते हैं। बावरो—बावला, पागल। तदपि—तो भी। इतरात—अकड़ता हुआ। अरु—और। हौं बड़—मैं बड़ा हूँ। सूधे—सीधा। बालापन—बचपन। तरुनापन—जवानी। अलसात—आलस्य में। औसर—अवसर, मौका॥

१० तुअ—तेरा। ससि—शशि, चन्द्र। कर करि कै—हाथ के इशारे से। हेर्यो—देखना। भाजि—भाग। अपहारी—चोर। बदन—मुख। बिधु—चन्द्र। सकात—डरता है। बिलखाने—रोते रोते चुप हो गये॥

सुनहु स्याम तुमको ससि डरपत, कहत है सरन तुम्हारी।
सूर स्याम बिरुझाने सोये, लिये लगाइ छतियाँ महतारी ॥१०॥

मैया मोहिँ दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनों, तू जसुमति कब जायो ॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिँ जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, यसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥११॥

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत ओछत नागिन सी भ्वैं लोटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी।।१२।

११ दाऊ—बड़ा भाई, बलराम। खिझायो—तङ्ग किया। रिस—क्रोध। तातु—पिता। कत—क्यों। खीझै—नाराज होती है। लखि—देखकर। चबाई—चालाक। जनमत ही को—जन्म से ही। धूत—धूर्त, शरारती। मो—मुझे ॥

१२ किती—कितनी। बेनी—सिर के बाल। हलधर—बलराम ॥

मैया मैं न चरैहों गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मो सों, मेरे पाइ पिराइ॥
जो न पत्याहि पूछ बलदाउहिँ, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि सुनि जसुमति ग्वालनि को, गारी देत रिसाइ॥
मैं पठवति अपने लरिका को, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिँगाइ॥१३॥

जागहु जागहु नन्दकुमार।
रवि बहु चढ़े रैन सब निघटी, उघरे सकल किंवार॥
वारि वारि जल पियत जसोदा, उठु मेरे प्रान अधार।
घर घर गोपी दह्यो बिलोवहिं, कर कंकन झनकार॥
साँझ दुहन तुम कह्यो गाइ कों, ताते होत अबार।
सूरदास प्रभु उठे सुनत ही, लीला अगम अपार॥१४॥

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहिं पठायो॥

---

१३ चरैहों—चराऊँगा। सिगरे—सारे। घिरावत—हांक-हांक कर घेर लाने को कहते हैं। पाइ—पैर। पिराइ—दर्द होता है। पत्याहि—विश्वास करो। सौंह—कसम। गारी—गाली। रिसाइ—कुपित होकर। पठवति—भेजती। लरिका—लड़का। बहराई—बहला कर। रिँगाइ—टहला कर॥

१४ रवि—सूर्य। रैन—रात। निघटी—चली गई। उघरे—खुले। वारि-वारि जल पियति—जल को पुत्र पर वार-वार कर पीती है। दह्यो—दही। बिलोवहिं—मथती हैं। झनकार—शब्द। साँझ—सायं। अबार—देर। अगम—अगम्य॥

चार पहर बंसीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो ।
मैं बालक बहियन को छोटो छींको किस बिध पायो ॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतयायो ॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है जान परायो जायो ।
यह ले अपनी लकुट कमरिआ बहुतहि नाच नचायो ।
सूरदास बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो ॥१५॥

हरि सौं धेनु दुहावति प्यारी ।
करति मनोरथ पूरन मन, वृषभानु महर की बारी ॥
दूध-धार मुख पर छबि लागति, सो उपमा अति भारी ।
मानो चन्द कलङ्कहिं धोवत, जहँ तहँ बूँद सुधारी ॥
हाव भाव रस मगन ह्वै दोऊ, छबि निरखति ललिता री ।
गौ दोहन सुख करत सूर प्रभु, तीनहुँ भुवन कहाँ री ॥१६॥
हमहिँ डर कौन को री मैया ।
डोलत फिरत सकल वृन्दावन, जाके मीत कन्हैया ॥

---

१५ भोर—प्रातः । पठायो—भेजा । बरबस—विवश । भोरी—भोली । लकुट—लाठी । उर—छाती ॥

१६ प्यारी—राधा । धेनु—गाय । वृषभानु—राधा के पिता का नाम । महर—ग्वालों के राजा । बारी—बेटी । ललिता—राधा की सखी । तीनहुँ भुवन कहां री—ऐसे आनन्द के सम्मुख त्रिलोकी का ऐश्वर्य भी कुछ नहीं ॥

१७ मीत—मित्र । गाढ़—कष्ट । सहैया—सहाय । हरि हलधर—कृष्ण बलराम । स्वर्ग चलैया—मारा जाता है ॥

जब जब गाढ़ परति है हमको, तहँ करि लेत सहैया।
चिरजीवहु जसुमति सुत तेरो, हरि हलधर दोउ भैया॥
इनतैं बड़े और नहिं कोऊ, इह सब देत बढ़ैया।
सूर स्याम सन्मुख जे आयं, ते सब स्वर्ग चलैया॥१७॥

जसोदा बार बार यों भाषै।
है ब्रज में कोउ हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै॥
कहा काज मेरे छगन मगन को, नृप मधुपुरी बुलायो।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हतन को, काल रूप ह्वै आयो॥
बरु ये गोधन हरौ कंस सब, मोहिं बन्दि लै मेलो।
इतने ही सुख कमलनयन मेरी, अँखियन आगे खेलो॥
वासर बदन विलोकत जीयों, निसि निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जीवों कर्मबस, तौ हँसि काहि बोलाऊँ॥
कमलनैन गुन टेरत टेरत, अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखी नन्द की रानी॥१८॥

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु।
पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन बन डोलैं।
अलि कोकिल दे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥

---

१८ हितू—हित चाहनेवाले। छगन मगन—कृष्ण का प्यार का नाम। सुफलक-सुत—अक्रूर। हतन—मारने। बरु—बल्कि। बन्दि—कैद कर। अंकम—गोद॥

१९ सुरभी—गाय। स्रवन—कान। पय—दूध। अलि—भौंरा।

जमुन भई तन स्याम स्याम बिनु, अंध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र बसन न सँभारत, बिरह वृच्छ भये योगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन॥१६॥

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नोनहरामी॥
भरि भरि उदर विषय को धावौं, जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरि-बिमुखन की, निसि दिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मो तें, सब पतितन में नामी।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, सुनियं श्रीपति स्वामी॥२०॥

रे मन मूरख, जन्म गँवायो।
करि अभिमान विषय-रस राँच्यो स्याम सरन नहिं आयो॥
यह संसार फूल सेमर को, सुन्दर देखि भुलायो।
चाखन लाग्यो रुई गई उड़ि, हाथ कछु नहिँ आयो॥

भीत—डरे हुए। छीन—छीण, दुर्बल। तरुवर—वृक्ष। अवधि—कृष्ण के आने का नियत समय। आस—आशा॥

२० कुटिल—टेढ़ा। नोन—नमक। उदर—पेट। विषय—भोग-विलास। सूकर—सुअर। ग्रामी—गांव का। पतितन—गिरे हुए। ठौर—स्थान। श्रीपति—विष्णु॥

२१ राँच्यो—लीन हो गया, रङ्गा गया। सेमर—शाल्मली, इस पेड़ में केवल लाल-लाल पुष्प होते हैं जिसमें से बड़ी मुलायम रुई सी निकलती है। धुनि—हिलाकर॥

कहा भयो अब के मन सोचे, पहिले नाहिं कमायो ।
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु, सिर धुनि धुनि पछितायो ॥२१॥

तुम मेरी राखो लाज हरी ।
तुम जानत सब अन्तरजामी, करनी कछु न करी ॥
औगुन मो तें बिसरत नाहीं, पल छिन घरी घरी ।
सब प्रपंच की पोट बाँधि कर, अपने सीस धरी ॥
दारा सुत धन मोह लिये हौं, सुधि बुधि सब बिसरी ।
सूर पतित को बेगि उधारो, अब मेरी नाव भरी ॥ २२ ॥

---

२२ करनी—सत्कर्म । औगुन—अवगुन । छिन—क्षण । प्रपंच—जंजाल । पोट—गठरी । बेगि—शीघ्र । उधारो—बचाओ, उद्धार करो ॥

तुलसीदास

हिन्दी भाषा के सर्व-प्रिय कवि तुलसीदासजी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध, सम्भवतः १५८९ विक्रमी, में पैदा हुए थे। यह वह समय था जब संसार में एक बड़ी भारी साहित्यिक लहर उमड़ आई थी, सर्वत्र एक विश्वजनीन साहित्य की सृष्टि हो रही थी। इधर हिन्दी की प्रौढ़ावस्था आरम्भ हो चली थी। भारत राजनैतिक उपद्रवों से सुरक्षित था। शाही दरबारों में हिन्दी के कवियों का आदर होता था। लोग राम और कृष्ण की भक्ति के रङ्ग में विशेष रूप से रँगे जा रहे थे। तुलसीदासजी ने भी बाल्यकाल से ही रामभक्ति का ख़ूब आस्वादन किया और समय पाकर दूसरों को भी इस भक्ति-रस का आस्वादन कराने के लिए रामायण जैसे अनुपम ग्रन्थ-रत्न को लिखकर सदा के लिए अपना नाम अमर कर दिया।

बाँदा ज़िले के राजापुर गाँव में एक ग़रीब ब्राह्मण घराने में इनका जन्म हुआ था। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। दीनबन्धु पाठक की लड़की रत्नावली से इनका विवाह हुआ था।

कहते हैं, तुलसीदास मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे इसलिए पैदा होते ही इनके माता-पिता ने इनको त्याग दिया था। कवितावली में वे स्वयं लिखते हैं—

"मातु पिता जग जाइ तज्यो,
विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।"

जान पड़ता है, गुरु-कुल ही में इनका लालन-पालन हुआ था। इस विषय में रामायण का प्रमाण बिलकुल स्पष्ट है—

"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझि नहीं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥"

अर्थात् इस कथा को मैंने सूकर-खेत में अपने गुरुजी से सुना था किन्तु उस समय मैं इतना छोटा था कि वह अच्छी तरह मेरी समझ में नहीं आई।

गुरु-मुख से इन्होंने केवल रामायणीय कथा ही नहीं सुनी किन्तु और भी बहुत से शास्त्र पढ़े। सूरदासजी की तरह ये भी बड़े गुरुभक्त थे। बालकाण्ड के आरम्भ में इन्होंने गुरु-वन्दना में जो छन्द लिखे हैं उनसे स्पष्ट है कि गुरु के प्रति इनकी कितनी श्रद्धा और आदर-भाव था।

जीवन में अत्यन्त उलट-फेर करनेवाली घटना इनके प्रति इनकी स्त्री का उपालम्भ है। ये अपनी स्त्री से बहुत प्रेम करते थे; उसके प्रेम में इतने पागल हो रहे थे कि क्षण भर के लिए भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकते थे—उसका मुखचन्द्र देखे बिना उनके चित्त-चकोर को कल ही न पड़ती थी! एक दिन उनकी स्त्री बिना पूछे ही अपने पिता के घर चली गई; तुलसीदासजी को जब इस बात का पता लगा तो वे भी पीछे पीछे हो लिये और ससुराल में पहुँच कर स्त्री से

मिले। स्त्री को यह पागलपन पसन्द न आया; अतएव तुलसीदास को लज्जित करने के लिए उसने निम्नलिखित दोहे सुनाये:—

"लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि-चरम-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति॥"

अर्थात् आपको शर्म नहीं आती कि साथ साथ दौड़ आये हो; हे स्वामिन्, मैं क्या कहूँ, आपके ऐसे प्रेम को धिक्कार है! मेरे हाड़ और मांस के शरीर से जैसी आपकी प्रीति है ऐसी प्रीति यदि श्रीरामजी के चरणों में होती तो जन्म के दुःखों से एक-दम छुटकारा पा जाते।

तुलसीदासजी के हृदय में ये बातें असर कर गईं। योगी का उपदेश जिस काम को नहीं कर सकता, शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास से जिसका होना सुलभ नहीं, उसी को एक अबला के वचन सहज ही में कर बैठे। तुलसीदासजी को वास्तविक विरक्ति हो गई। प्रेम की धारा तुच्छ विषय-वासनाओं की तरफ़ से उलट कर उस अगाध समुद्र की ओर बहने लगी जहाँ पहुँच कर मनुष्य जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाता है।

घर-बार छोड़कर तुलसीदासजी तीर्थों में भ्रमण करने लगे। पहले-पहल ये अयोध्या में जाकर रहे; उसके बाद जीवन का

अधिक भाग इन्होंने काशी में व्यतीत किया। संवत् १६३१ में इन्होंने रामायण को लिखना शुरू किया।

यों तो तुलसीदासजी ने कवित्तरामायण, दोहावली, गीतावली, विनयपत्रिका आदि और भी बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं किन्तु रामायण ही उनकी सर्वोत्तम कृति समझी जाती है। उत्तर भारत में प्रायः प्रत्येक हिन्दू-घर में इसकी एक न एक प्रति अवश्य मिलेगी। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, सभी रामायण को बड़े चाव से पढ़ते और सुनते हैं। सूर-दास को यद्यपि हिन्दी का प्रधान कवि माना गया है तथापि रामायण के मुक़ाबले में उनके सूरसागर का प्रायः कुछ भी प्रचार नहीं है।

तुलसीदासजी के सर्वप्रिय होने के दो मुख्य कारण मालूम होते हैं—(१) चरित्र-चित्रण और (२) उदात्त रचना।

रामायण के चरित्र मनुष्य हैं, न तो वे अतिमानुष हैं न लोक से असम्पृक्त। उनका भी हमारे जैसा हृदय है। यही कारण है कि हम उनके साथ समवेदना प्रकट करते हैं, उनसे सहानुभूति दिखलाते हैं। रामायण आदर्श गृहस्थ का एक अनुपम हृदयस्पर्शी चित्र है। आत्मविस्मरण और महानु-भावता के इतने सुन्दर उदाहरण विश्व के साहित्य में बहुत कम मिलेंगे। राज्याभिषेक की सूचना मिलने से पहले राम और सीता के शुभ अङ्ग फड़कते हैं तो वे परस्पर प्रेम से कहते हैं कि ये भरत के आगमन के सूचक हैं। श्रीरामचन्द्रजी

को तो पूर्ण निश्चय हो जाता है कि भरत से भेंट होने-वाली है—

"भये बहुत दिन अति अवसेरी।
सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं।
इहहि सगुन फल दूसर नाहीं॥"

ननिहाल गये भरत को बहुत दिन हो गये हैं, मुझे अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है; इस शुभ शकुन से निश्चय होता है कि किसी प्रिय जन से भेंट होगी। संसार में भरत के समान और कौन प्यारा है; इस शकुन का और कोई फल ही क्या हो सकता है, सिवा इसके कि भरत से भेंट होगी। कितना उत्कृष्ट भ्रातृ-प्रेम है !

वाल्मीकि रामायण की सर्व-प्रियता तो भारत में पहले से थी ही। तुलसीदासजी ने उसको बोलचाल की सरल और सरल भाषा में बनाकर और संस्कृत रामायण की अपेक्षा उसमें कुछ उत्कृष्टताएँ पैदा करके सर्वसाधारण के उपयोगी बना दिया। कुछ तो व्रजभाषा का लालित्य, कुछ मानव-हृदय के उद्‌गारों का मनोहर चित्रण और कुछ परम्परा के संस्कारों के कारण तुलसीकृत रामायण का सर्वप्रिय होना स्वाभाविक ही था।

तुलसीदास की रचना इतनी उदात्त (Sublime) है कि क्षुद्र से क्षुद्र हृदय भी उसको पढ़ या सुनकर एक बार उच्च हुए बिना नहीं रह सकता। चित्त-विकृति की सामग्री तो उसमें है ही

नहीं। सूरदास की कविता में केवल चरित्र-चित्रण की ही कमी नहीं किन्तु उसमें शृङ्गार रस की इतनी भरमार है कि साधारण बुद्धि का मनुष्य उससे लाभ नहीं उठा सकता; उसके चित्त में संक्षोभ हुए बिना नहीं रह सकता। सूर के पदों में कुछ शक्ति ही ऐसी है—"किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर!" सूरदास की कविता पढ़ने से हर एक के भाव उच्च नहीं हो सकते। इसके विपरीत तुलसीदासजी ने रामायण में जहाँ कहीं शृङ्गार का वर्णन किया है; उसको इतना उच्च और पवित्र बनाया है कि उससे कभी मन में विकृति नहीं आ सकती। श्रीराम-सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं तो कैसे पवित्र शब्दों में—

"सुन्दरता कहँ सुन्दर करही॥"

* * * *

"सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥"

सीता के लोकोत्तर सौन्दर्य ने मेरे स्वभाव ही से पवित्र हृदय को भी संक्षुब्ध कर दिया। कितना पुनीत शृङ्गार है।

तुलसीदासजी जब सीता के लिए उपमाएँ ढूँढ़ते हैं तब ऐसा नहीं कहते कि सीता की कटि ऐसी है, उसकी आँखें ऐसी हैं, किन्तु—

जनम सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलङ्क।
सिय-मुख समता पाव किमि, चन्द बापुरो रङ्क॥

घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई ।
ग्रसइ राहु निज सन्धिहिं पाई ॥
कोक सोकप्रद पङ्कज-द्रोही ।
अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही ॥
वैदेही मुख पटतर दीन्हे ।
होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥

राम चन्द्रमा को देखकर उसके साथ सीता के मुख की समता देना चाहते हैं किन्तु सहसा विचार आता है कि यह ठीक नहीं है। चन्द्रमा का खारे समुद्र से जन्म हुआ है तिस पर भी वह विष का भाई है; दिन में मलिन रहता है और कलङ्क-युक्त है। बेचारा क्षुद्र चन्द्रमा सीता के मुख की समता कैसे पा सकता है! चन्द्रमा घटता-बढ़ता रहता है और विरही लोगों के दिलों को दुखानेवाला है। राहु मौक़ा पाकर उसे निगल जाता है; चकवा-चकवी को शोक में डालनेवाला और कमल से द्वेष रखनेवाला है। हे चन्द्रमा, तुझमें बहुत अवगुण हैं। सीता के मुख से तेरी समता करने में बड़ा दोष आता है।

फिर सोचकर कहते हैं—

"जौ छवि-सुधा-पयो-निधि होई ।
परम रूपमय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मन्दरु सिंगारू ।
मथइ पानि-पङ्कज निज मारू ॥

एहि विधि उपजइ लच्छि जब सुन्दरता सुख-मूल ।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल ॥

यदि सौन्दर्य-रूपी अमृत का समुद्र हो और उसमें कछुवे सौन्दर्य के बने हुए ही हों, शोभा ही की बिलोने की रस्सी हो और स्वयं शृङ्गार रस मन्दराचल हो और कामदेव स्वयं अपने कर कमलों से मथन करे; इस प्रकार सुन्दरता और सुख की मूल लक्ष्मी पैदा हो तब कहीं संकोच के साथ कवि लोग सीता से उसकी समता कर सकते हैं।

सीता की एक सहेली ने बाग़ में राम और लक्ष्मण को देखा है तो वह अन्य सखियों और सीता से कहती है कि सखियो, उन राजकुमारों के रूप का वर्णन करने में वाणी सर्वथा असमर्थ है—वह रूपलावण्य स्वयं अनुभव करने की वस्तु है; उसका दूसरों पर शब्दों के द्वारा प्रकट करना सुलभ नहीं, क्योंकि जिन आँखों ने उस रूप को देखा है वे तो वाणी-रहित हैं—केवल रूप का अनुभव-मात्र कर सकती हैं, बोलकर व्यक्त नहीं कर सकतीं; और वाणी में देखने की शक्ति नहीं—

"गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।"

अतएव स्वयं चलकर देखो तो मालूम कर सकती हो।

रामायण में तुलसीदासजी की प्रहास-पटुता भी लक्ष्मण-परशुराम-संवाद और रावण-अङ्गद-संवाद आदि स्थलों में स्पष्ट ही है।

तुलसीदासजी की रचना उदात्त है, सूरदास की ललित; तुलसीदास की कविता पढ़ने से हृदय उन्नत होता है तो सूरदास की कविता से वह पसीजकर तन्मय हो जाता है। तुलसी की कविता से रमणी के वचनों के समान मधुर उपदेश मिलता है तो सूरदास की कविता के श्रवण-मात्र से 'सद्यः परनिर्वृ'ति' होती है। अतएव केवल कवित्व की दृष्टि से यद्यपि तुलसीदासजी का स्थान दूसरा है तथापि उपयोगिता के लिहाज़ से हम उनके ही अधिक ऋणी हैं।

कहते हैं, तुलसीदासजी को पहले ही से अपने मरण-काल का ज्ञान होगया था। इस विषय में उनका बनाया हुआ निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

"संवत् सोलह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावणशुक्ला सप्तमी, तुलसी तजो शरीर॥"

इनके अनुसार ही संवत् १६८० श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को बनारस में गङ्गा के असी घाट पर इस पुण्यात्मा का देहावसान हुआ।

परशुराम-लक्ष्मण-संवाद

खरभर देखि विकल पुरनारी। सब मिलि देहिँ महीपन्ह गारी
तेहि अवसर सुनि सिव-धनु-भंगा। आये भृगु-कुल-कमल-पतंगा
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने

1 खरभर—गड़बड़। विकल—बेचैन। गारी—गाली। पतंग—सूर्य। जनु—जैसे। लवा—बटेर। लुकाने—छिपते हैं।

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा
सीस जटा ससि बदन सुहावा । रिसिबस कछुक अरुन होइ आवा
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते । सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते
बृषभ कंध अरु बाहु बिसाला । चारु जनेउ माल मृगछाला
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधे । धनु सर कर कुठार कल काँधे

संत बेष करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप ।
धरि मुनितनु जनु बीररसु आयउ जहँ सब भूप ॥ १ ॥

देखत भृगु-पति-बेषु कराला । उठे सकल भयबिकल भुआला
पितु समेत कहि निज निज नामा । लगे करन सब दण्ड प्रनामा
जेहि सुभाय चितवहिँ हितु जानी । सो जानइ जनु आइ खुटानी
जनक बहोरि आइ सिर नावा । सीय बोलाइ प्रनाम करावा
आसिष दीन्हि सखी हरषानी । निज समाज लेइ गईं सयानी
बिस्वामित्र मिले पुनि आई । पदसरोज मेले दोउ भाई
राम लषन दसरथ के ढोटा । दीन्हि असीस देखि भलि जोटा
रामहिँ चितइ रहे भरि लोचन । रूप अपार मार-मद-मोचन

भूति—भस्म । भ्राजा—चमकती है । भाल—मस्तक । बिसाल—विशाल । त्रिपुण्ड्र—तिलक । रिसि—क्रोध । अरुन—लाल । भृकुटी—भौंहें । राते—लाल । चितवत—देखें । बृषभ—बैल । अरु—और । चारु—सुन्दर । कटि—कमर । तून—तरकस । सर—शर, बाण । कर—हाथ । कुठार—कुल्हाड़ा । कल—सुन्दर । करनी—कर्म । बरनी—वर्णन करना ॥

२ कराल—भयङ्कर । भुआल—भूपाल, राजा । सुभाय—सहज स्वभाव । आइ—आयु । बहोरि—फिर । हरषानी—प्रसन्न हुई । सरोज—कमल । ढोटा—पुत्र । जोटा—जोड़ी । चितइ—

बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह अति भीर ।
पूछत जान अजान जिमि ब्यापेउ कोप सरीर ॥ २ ॥

समाचार कहि जनक सुनाये । जेहि कारन महीप सब आये
सुनत बचन तब अनत निहारे । देखे चापखंड महि डारे
अतिरिस बोले बचन कठोरा । कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा
बेगि दिखाउ मूढ़ न त आजू । उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू
अति डर उतर देत नृप नाहीं । कुटिल भूप हरषे मन माहीं
सुर मुनि नाग नगर-नर-नारी । सोचहिं सकल त्रास उर भारी
मन पछिताति सीय महतारी । बिधि अब सवरी बात बिगारी
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता । अरध निमेष कलप सम बीता

सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु ।
हृदय न हरष बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु ॥ ३ ॥

नाथ संभु-धनु-भंजनि-हारा । होइहि कोउ एक दास तुम्हारा
आयसु काह कहिय किन मोही । सुन रिसाइ बोले मुनि कोही

देखने । लोचन—नेत्र । मार—कामदेव । मद—गर्व । काह—क्यों । भीर—भीड़ । जिमि—जैसे । ब्यापेउ—भर गया ॥

३ जेहि—जिस । अनत—दूसरी ओर । निहारे—देखा । चापखंड—धनुष के टुकड़े । महि—पृथ्वी । बेगि—शीघ्र । न त—नहीं तो । त्रास—डर । उर—हृदय में । महतारी—माता । बिधि—क़िस्मत । सवरी—बनी बनाई । भृगुपति—परशुराम । कर—का । अरध—आधा । निमेष—पलक । भीरु—संकट । हरष—हर्ष, ख़ुशी । बिषाद—दुःख ॥

सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरिकरनी करि करिय लराई
सुनहु राम जेइ सिवधनु तोरा। सहस-बाहु-सम सो रिपु मोरा
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जइहैं सब राजा
सुनि मुनि-बचन लषन मुसकाने। बोले परशुधरहि अपमाने
बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगु-कुल-केतू

रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीं सम त्रि-पुरारि-धनु बिदित सकल संसार ॥४॥

लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे
छुवत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू
बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा
बालक बोलि बधउँ नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही
बालब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व-बिदित क्षत्रिय-कुल-द्रोही

---

४ संभु—शिवजी। भंजनिहारा—तोड़नेवाला। आयसु—आज्ञा। कोही—क्रोधी। अरि—शत्रु। लराई—लड़ाई। रिपु—वैरी। सो—वह। बिलगाउ—अलग हो जाय। बिहाइ—छोड़कर। लषन—लक्ष्मण। मुसकाने—मुसकराये। परशुधरहि—परशुराम को। लरिकाईं—बचपन में। असि—ऐसी। केहि—किस। हेतु—कारण। केतु—पताका। सँभारि—सँभल कर। त्रिपुरारि—शिव। बिदित—जाना हुआ॥

५ हमरे जाना—हमारी जान में। छति—क्षति, हानि। जून—जीर्ण, पुराना। भोरे—भरोसे। कत—क्यों। रोषू—क्रोध। चितइ—देखकर। परसु—कुलहाड़ा। सठ—शठ, दुष्ट। सुभाउ—

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही । बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही
सहस-बाहु-भुज-छेदनि-हारा । परसु बिलोकु महीपकुमारा

मातपितहि जनि सोच-बस करसि महीपकिसोर ।
गरभन के अरभक दलन परसु मोर अति घोर ॥ ५ ॥

बिहँसि लषन बोले मृदु बानी । अहो मुनीस महाभटमानी
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उड़ावन फूँकि पहारू
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं । जे तरजनी देखि मरि जाहीं
देखि कुठार सरासन बाना । मैं कछु कहेउँ सहित अभिमाना
भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी । जो कछु कहेहु सहउँ रिस रोकी
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरे कुल इन्ह पर न सुराई
बधे पाप अपकीरति हारे । मारतहु पा परिय तुम्हारे
कोटि-कुलिस-सम बचन तुम्हारा । ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा

जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर ।
सुनि सरोष भृगु-बंस-मनि बोले गिरा गँभीर ॥ ६ ॥

कौसिक सुनहु मन्द यह बालक । कुटिल कालबस निज-कुल-घालक

स्वभाव । बिस्व—विश्व । विपुल—बहुत । महिदेव—ब्राह्मण । सहस—सहस्रों । बिलोकु—देखो । जनि—मत, नाहक । गरभन—गर्भों । अरभक—नन्हा बालक ॥

६ महाभटमानी—अपने आपको बड़ा योधा माननेवाला । पहारू—पहाड़ । इहां—यहां । तरजनी—अँगुली । सरासन—धनुष । गरभन—गर्भों । रिस—क्रोध । रोकी—रोककर । सुर—देव । महिसुर—ब्राह्मण । सुराई—वीरता । पा—पांव । परिय—पड़ें, पड़कर । कोटि—करोड़ । कुलिस—वज्र । छमहु—क्षमा कीजिए । गिरा—वाणी ॥

भानु - बंस - राकेस-कलंकू । निपट निरंकुस अबुध असंकू
काल कवलु होइहि छन माहीं । कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं
तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा । कहि प्रताप बल रोष हमारा
लषन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा । तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी । बार अनेक भाँति बहु बरनी
नहि संतोषु तौ पुनि कछु कहहू । जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू
बीरवृत्ति तुम्ह धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा

सूर समर करनी करहिँ कहि न जनावहिँ आपु ।
विद्यमान रिपु पाइ रन कायर करहिँ प्रलापु ॥ ७ ॥

तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा । बार बार मोहि लागि बोलावा
सुनत लषन के बचन कठोरा । परसु सुधारि धरेउ कर घोरा
अब जनि दोष देइ मोहि लोगू । कटुबादी बालकु बधजोगू
बाल विलोकि बहुत मैं बाँचा । अब यह मरनहार भा साँचा
कौसिक कहा छमिय अपराधू । बाल-रोष-गुन गनहिँ न साधू
कर कुठार मैं अकरन कोही । आगे अपराधी गुरु-द्रोही

---

७ कौसिक—हे विश्वामित्र । घालक—नाश करनेवाला । भानु—सूर्य । राकेस—चंद्र । निपट—बिलकुल । निरंकुश—बे-लगाम । अबुध—मूर्ख । असंकू—निडर । कवल—ग्रास । खोरि—दोष । उबारा—बचाव । सुजस—सुयश । दुसह—न सहने लायक, असह्य । अछोभा—अक्षोभ, क्रोधरहित । सूर—शूर, वीर । समर—युद्ध । प्रलापु—वृथा बकवाद ॥

८ तौ—तो । बधजोग—मारने योग्य । बाँचा—बचाया । अकरन—अकारण । कोही—क्रोधी । उरिन—उऋण ।

उतर देत छाँड़उ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे
न तु एहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे

गाधिसूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरिग्ररइ सूझि।
अजगव खंडेउ ऊख जिमि अजहु न बूझ अबूझ ॥ ८ ॥

कहेउ लषन मुनि सील तुम्हारा। को नहिँ जान बिदित संसारा
मातहि पितहि उरिन भये नीके। गुरु-रिनु रहा सोच बड़ जीके
सो जनु हमरे माथे काढ़ा। दिन चलि गयउ व्याज बहु बाढ़ा
अब आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली
सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचेउ नृप-द्रोही
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहिँ के बाढ़े
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहिँ लषन निवारे

लषन-उतर आहुति सरिस भृगु-बर-कोप-कृसानु।
बढ़त देखि जलसम बचन बोले रघु-कुल-भानु ॥ ९ ॥

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करिय न कोहू
जौं पै प्रभु प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना

स्रम—श्रम, मेहनत। गाधिसूनु—विश्वामित्र। अजगव—महादेव का धनुष। खंडेउ—तोड़ा। ऊख—गन्ना। अबूझ—बे समझ ॥

९ नीके—भली भांति। व्यवहरिया—हिसाबी। गाढ़े—भारी। बाढ़े—बड़े। सैनहिं—इशारे से। निवारे—मना किया। कृशानु—अग्नि ॥

१० छोहू—दया। सूध—सीधा। कोहू—क्रोध। अयाना—

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं
करिय कृपा सिसु सेवकु जानी। तुम्ह सम-सील धीर मुनि ज्ञानी
राम-बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लषन बहुरि मुसकाने
हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी
गौर सरीर स्याम मन माहीं। काल-कूट-मुख पयमुख नाहीं
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोहीं। नीच मीचसम देख न मोहीं

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिँ चरहिँ बिस्व प्रतिकूल॥१०॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोप करिय अब दाया
टूट चाप नहिँ जुरहि रिसाने। बैठिय होइहहिँ पाय पिराने
जौं अति प्रिय तौ करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई
बोलत लषनहिँ जनक डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं
थर थर काँपहिँ पुर-नर-नारी। छोट कुमार खोट अति भारी
भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी। रिस तन जरइ होइ बलहानी
बोले रामहिँ देइ निहोरा। बचउँ बिचारि बन्धु लघु तोरा
मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विष-रस-भरा कनकघट जैसे

नादान। अचगरि—नटखटी। मोद—खुशी। सिसु—शिशु। जुड़ाने—ठण्डे हुए। कछुक—कुछ। नखसिख—नख से चोटी तक। कालकूट—विष। पयमुख—दुधमुँहा। सहज—स्वभाव से। अनुहरइ—अनुसरण करता। मीचसम—मृत्यु के समान॥

११ अनुचर—सेवक। मुनिराया—मुनिराज। परिहरि—त्याग कर। दाया—दया। पिराने—दुखने। मष्ट—बस, चुप। जरइ—

सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि नयन तरेरे राम।
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम ॥ ११ ॥

अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुग पानी
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहिं काना
बररै बालक एकु सुभाऊ। इन्हहिं न सन्त बिदूषहिं काऊ
तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा
कृपा कोपु बधु बन्धु गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं
कहिय बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करउँ उपाई
कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे
एहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तो मैं काह कोप करि कीन्हा

गर्भ स्रवहि अवनिपरवँनि सुनि कुठारगति घोर।
परसु अछत देखउँ जियत बैरी भूपकिसोर ॥ १२ ॥

बहइ न हाथु दहइ रिस छाती। भा कुठार कुण्ठित नृपघाती
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ
आजु दैव दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित्र बहुरि सिर नावा

जलता था। निहोरा—एहसान। कनकघट—सोने का घड़ा।
नयन तरेरे—नेत्रों से डांटा। गवने—गये। बाम—टेढ़ी ॥

१२ जुग पानी—दोनों हाथ। बररै—भिड़। बिदूषहिं—दोष देते।
बधु—बध। बन्धु—बन्धन। बेगि—शीघ्र। अजहुँ—अभी भी। अनुज—छोटा भाई। चितव अनैसे—टेढ़ा देखता है। स्रवहिं—गिर जाते हैं।
अवनिपरवँनि—राजाओं की स्त्रियाँ। भूपकिसोर—राजकुमार ॥

१३ बहइ—चलता है। दहइ—जलती है। कुण्ठित—कुन्द।
बाम—उलटा। कसि—कैसी। नावा—नीचा किया। बाड-

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला
जौं पै कृपा जरहिँ मुनि गाता। क्रोधु भयें तन राखु बिधाता
देखु जनक हठि बालक एहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू
बेगि करहु किन आँखिन ओटा। देखत छोट खोट नृप-ढोटा
बिहँसे लषन कहा मुनि पाहीं। मूँदे आँख कतहुँ कोउ नाहीं

परसुराम तब राम प्रति बोले उर अति क्रोध।
संभु-सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध॥ १३॥

बन्धु कहइ कटु सम्मत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे
कर परितोष मोर संग्रामा। नाहिँ त छाँड़ु कहाउब रामा
छल तजि समर करहि सिवद्रोही। बन्धुसहित न त मारउँ तोही
भृगुपति बकहिं कुठार उठाये। मन मुसुकाहिँ राम सिरु नाये
गुनहु लषन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू।
टेढ़ जानि बन्दइ सब काहू। बक्र चन्द्रमहि ग्रसहि न राहू
राम कहेउ रिस तजहु मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी

प्रभु सेवकहिँ समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेष बिलोकि कहेसि कछु बालकहूँ नहिँ दोसु॥ १४॥

बाह री (या बायु)। गात—गात्र, शरीर। गेहू—घर। ओटा—आड़ में। ढोटा—छोकरा। मूँदे—बन्द करने पर। कतहुँ—कहीं पर। प्रबोध—ज्ञान-शिक्षा॥

१४ सम्मत—सम्मति से। कहाउब—कहाना। परितोष—सन्तुष्टि। सुधाइहु—सीधेपन में। बक्र—टेढ़ा। अनुगामी—सेवक॥

देखि कुठार-बान-धनुधारी । भइ लरिकहि रिस बीरु बिचारी
नाम जान पै तुम्हहिं न चीन्हा । बंस सुभाउ उतरु तेहि दीन्हा
जौं तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं । पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं
छमहु चूक अनजानत केरी । चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी
हमहिँ तुम्हहिँ सरबर कस नाथा । कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा
राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा
देव एक गुन धनुष हमारे । नवगुन परम पुनीत तुम्हारे
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु बिप्र अपराध हमारे

बार बार मुनि बिप्रवर कहा राम सन राम ।
बोले भृगुपति सरुष होइ तहूँ बन्धु सम बाम ॥ १५ ॥

निपटहि द्विज करि जानहि मोही । मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही
चाप स्रुवा सर आहुति जानू । कोप मोर अति घोर कृसानू
समिध सेन चतुरङ्ग सुहाई । महामहीप भये पसु आई
मैं यह परसु काटि बलि दीन्हे । समरजग्य जग कोटिक कीन्हे
मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे । बोलसि निदरि बिप्र के भोरे
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा । अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा

---

१५ बीरु—वीर । चीन्हा—पहिचाना । उतरु—उत्तर । अव-तेहु—आते । पदरज—पांव की धूल । घनेरी—गहरी, अधिक । सरबर—बराबरी । लघु—छोटा । पुनीत—पवित्र । सरुष—क्रोध के साथ । तहूँ—तू भी ॥

१६ निपटहि—बिलकुल ही । द्विज—ब्राह्मण । जस—जैसा । सेन—सेना । समिध—समिधा । चतुरंग—चार अंगोंवाली ; हाथी, घुड़सवार, रथ और पियादे । जग्य—यज्ञ । जग—जगत् ।

राम कहा मुनि कहहु विचारी । रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी
छुवतहि टूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करहुँ अभिमाना

जौं हम निदरहिं बिप्र वदि सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि भयबस नावहिं माथ ॥१६॥

देव दनुज भूपति भट नाना । समबल अधिक होउ बलवाना
जौं रन हमहिं प्रचारइ कोऊ । लरहिं सुखेन काल किन होऊ
क्षत्रियतनु धरि समर सकाना । कुलकलङ्क तेहि पाँवर जाना
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी । कालहु डरहिं न रन रघुबंसी
बिप्रबंस कै अस प्रभुताई । अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई
सुनि मृदु बचन गूढ़ रघुपति के । उघरे पटल परसु-धर-मति के
राम रमापति कर धनु लेहू । खैंचहु मिटइ मोर संदेहू
देत चाप आपुहि चलि गयेऊ । परसुराम मन बिसमय भयेऊ

जाना राम प्रभाव तब पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम समात ॥ १७ ॥

जय रघुबंस-बनज-बन-भानू । गहनदनुज-कुल-दहन कृसानू
जय सुर बिप्र-धेनु-हितकारी । जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी
बिनय-सील-करुना-गुन-सागर । जयति बचन-रचना अति नागर

निदरि—निरादर कर । दाप—दर्प, अभिमान । ठाढ़ा—खड़ा । चूक—ग़लती । पिनाक—धनुष । बदि—कहकर ॥

१७ प्रचारइ—चैलेञ्ज करे । सुखेन—सुख से । सकाना—डरना, संकोच करना । पाँवर—नीच । असि—यह । पटल—परदे । रमा—लक्ष्मी । आपहु—आप ही । बिसमय—हैरानगी ॥

१८ बनज-बन—कमलसमूह । गहन—गहरा, भारी । नागर—

सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा
करउँ काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस-मन-मानस-हंसा
अनुचित बचन कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता
कहि जय जय जय रघु-कुल-केतू। भृगुपति गये बनहिँ तप हेतू
अपभय सकल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिँ पराने

देवन दीन्ही दुंदुभी प्रभु पर बरषहिँ फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब मिटा मोहमय सूल॥ १८॥

राम-रावण-युद्ध

रावण रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा। बन्दि चरन कह सहित सनेहा
नाथ न रथु नहिँ तनु पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे
ईस-भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिज्ञान कठिन कोदण्डा

निपुण। सुखद—सुख देनेवाले। छबि—कांति। अनंग—कामदेव। मानस—मानसरोवर। अज्ञाता—अनजाने। दुन्दुभी—नगारे। सूल—संताप॥

बिरथ—बिना रथ, पैदल। भा—हुआ। पदत्राण—जूता। स्यन्दन—रथ। आना—अन्य, दूसरा। सौरज—शौर्य्य, वीरता। चाका—चक्र। सील—शील। रजु—रस्सी, लगाम। बिरति—

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना
कवच अभेद विप्र-गुरु-पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर।
जा के अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

वैराग्य। चर्म—ढाल। कृपान—तलवार। सक्ति—शक्ति। प्रचंड—वीर। कोदण्ड—धनुष। अमल—निर्मल। अचल—स्थिर। त्रोन—तरकस। सम—शम। जम—यम। सिलीमुख—बाण। अभेद—न टूटनेवाला। विप्र—ब्राह्मण। अस—ऐसा॥

सुदामाचरित

(नरोत्तमदास)

लोचन कमल दुखमोचन तिलक भाल

श्रवणन कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।

ओढ़े पीत बसन गले में बैजयन्ती माला

शङ्ख चक्र गदा और पद्म लिये हाथ हैं॥

कहत नरोत्तम सँदीपन गुरु के पास

तुमही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।

द्वारका के गये हरि दारिद हरेंगे पिय

द्वारका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं॥ १॥

शिच्छक हैं सिगरे जग को तिय

ताको कहा अब देति है सिच्छा।

जे तप कै परलोक सुधारत

सम्पति की तिनके नहिं इच्छा॥

मेरे हिये हरि को पद-पङ्कज

बार हजार ले देख परिच्छा।

१ दुखमोचन—दुःख से छुड़ानेवाले। भाल—मस्तक। श्रवणन—कानों में। पीत बसन—पीले कपड़े। दारिद—गरीबी॥

२—सिगरे—सारे। तिय—हे स्त्री। सिच्छा—शिक्षा। जे—जो।

औरन को धन चाहिए बावरी
ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा ॥२॥

दानी बड़े तिहुँ लोकन में जग
जीवत नाम सदा जिनको लै ।
दीनन की सुधि लेत भली विधि
सिद्ध करो पिय मेरो मतो लै ॥
दीनदयालु के द्वार न जात सो
और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै ।
श्रीयदुनाथ से जाके हितू सो
तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै ॥३॥

छत्रिन के प्रण युद्ध ज्यों बादल
साजि चढ़े गज बाजनहीं ।
वैश्य को बानिज और कृषीपन
शूद्र के सेवन नीति यही ॥
विप्रन के प्रण है जु यही
सुख-सम्पति सों कुछ काज नहीं ।

हिये—हृदय में । पद-पंकज—पांव-रूपी कमल । परिच्छा—परीक्षा । बावरी—बावली, पागल ॥

३ तिहूँ—तीनों । पिय—प्रिय । यदुनाथ—कृष्ण । हितू—मित्र । पन—पण, होड़ । डोलैं—भटकें । कन—कण, आटा, अण्ड ॥

४ बानिज—व्योपार । कृषीपन—खेती-बाड़ी । विप्रन—ब्राह्मणों को

कै पढ़िबो कै तपोधन है

कन माँगत ब्राह्मणै लाज नहीं ॥४॥

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट

न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।

शीतव्यतीत भयो सिसिआतहि

हौं हठती पै तुम्हें न हठौती ॥

जो जनती न हितू हरि से

मैं काहे को द्वारका ठेल पठौती।

या घर से कबहूँ न गयो पिय

टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥५॥

छाँड़ि सबै झक तोहि लगी बक

आठहुँ याम यही झक ठानी।

जातहिं देहैं लदाय लढ़ा भरि

लैहो लदाय यही जिय जानी ॥

पैयं अटारी अटा कहँ ते

जिनको विधि दीनि है टूटी सी छानी।

जो पै दरिद्र ललाट लिख्यो

तो पै काहू के मेटे न जात अजानी ॥६॥

---

५ सिसिआतहि—सिसकते हुए। ठेल—धकेलकर। पठौती—भेजती। अरु—और ॥

६ आठहु याम—आठों पहर। झक—सनक। लढ़ा—भार ढोनेवाली गाड़ी। जिय—जी में। अटारी, अटा—छत के ऊपर की कोठरी। ललाट—माथे पर। अजानी—अज्ञात ॥

फाटे पट टूटी छानि खायो भीख माँगि आनि
बिना गये विमुख रहत देव पित्रई।
वे हैं दीनबन्धु दुखी देखके दयालु ह्वै हैं
देहैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई॥
द्वारका लौं जात पिय केतौ अलसात तुम
काहे को लजात भई कौन सी विचित्रई।
जो पै सब जन्म यं दरिद्र ही सताये तो पै
कौन काज आय है कृपानिधि की मित्रई॥७॥

तैं तो कही नीकी सुन बात हित ही की यह
रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए।
चित्त के मिले ते वित्त चाहिए परस्पर
मित्र कं जो जेंइयें तो आपहू जिमाइए॥
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप
तहाँ यह रूप जाय कहा सकुचाइए।
दुख सुख सब दिन काटे ही बनेगो भूल
विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए॥८॥

विप्र के भगत हरि जगत विदित बन्धु
लेत सबही की सुधि ऐसे महादानि हैं।

---

७ पट—कपड़े। पित्रई—पितर। अगत्रई—आगे ही। विचित्रई—अजीब बात। काज—काम। कृपानिधि—दयासागर, कृष्ण। मित्रई—मित्रता॥

८ सरसाइए—प्रशंसा की जाय। वित्त—धन। जेंइये—खावें। जिमाइए—खिलावें। जोरि—जोड़कर॥

पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो बार
　　लोचन अपार वे तुम्हें न पहिचानिहैं।
एक दीनबन्धु कृपासिन्धु फेर गुरुबन्धु
　　तुम सम कौन दीन जाको जिय जानिहैं।
नाम लेत चौगुनी गये ते द्वार सौगुनी
　　विलोकत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानिहैं॥९॥

द्वारका जाहु जू द्वारका जाहु जू
　　आठहु याम यही झक तेरे।
जौ न कहो करिये तौ बड़ो दुख
　　पैहौ कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खड़े प्रभु के छड़िया तहँ
　　भूपति जान न पावत नेरे।
पान सुपारी तौ देखु विचारि कै
　　भेंट को चारि न चामर मेरे॥१०॥

यह सुनि के तब ब्राह्मणी गई परोसिन पास।
सेर पाव चामर लिये आई सहित हुलास॥
सिद्धि करौ गणपति सुमिरि बाँधि दुपटिया खूट।
चले जाहु तेहि मारगहि माँगत बाली बूट॥११॥

९ चटसार—पाठशाला। कैयो—कई। विलोकत—देखने पर। सहस—सहस्र॥
१० छड़िया—दरबान। नेरे—नेड़े, निकट। चामर—चावल॥
११ हुलास—हर्ष। बूट—चना। गणपति—गणेश। सुमिरि—स्मरण कर॥

मंगल संगीत धाम-धाम में पुनीत जहाँ
नाचें वारवधू देवनारि अनुहारिका।
घंटन के नाद कहुँ बाजन के छाय रहे
कहुँ कीर केकी पढ़ें सुक और सारिका॥
रतनन ठाट हाट बाटन में देखियत
घूमें गज अश्व रथ पत्ति नर नारिका।
दशो दिशा भीर द्विज धरत न धीर मन
उठत है पीर लखि बलबीर द्वारिका॥१२॥

दृष्टि चकचौंधि गई देखत सुबरनमयी
एक ते सरस एक द्वारका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ काहू से न करे बात जहाँ
देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं॥
देखत सुदामा धाय पुरजन गहे पाय
कृपा करि कहो कहाँ कीने विप्र गौन हैं।
धीरज अधीर के हरण परपीर के
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं॥१३॥

---

१२ पुनीत—पवित्र। वारवधू—गणिका। देवनारि—अप्सरा। अनुहारिका—सदृश, अनुकरण करनेवाली। नाद—शोर। कहुँ—कहीं। कीर—तोता। केकी—मोर। सारिका—मैना। बाटन—मार्ग। पत्ति—प्यादे। भीर—भीड़। पीर—पीड़ा। लखि—देखकर। बलबीर—कृष्ण॥

१३ चकचौंधि—चुंधिया, चकित। सुबरन—स्वर्ण। सरस—अच्छे। भौन—भवन। मौन—चुप्पी। गौन—गमन॥

द्वारपाल चलि तहँ गयो जहाँ कृष्ण यदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो बोल्यो शीश नवाय ॥ १४ ॥

शीश पगा न झँगा तन में
प्रभु जाने को आहि बसै किहि ग्रामा।
धोती फटी सी फटी दुपटी
अरु पाँय उपानह को नहिं सामा ॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि
रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
दीनदयालु को पूछत नाम
बतावत आपनो नाम सुदामा ॥ १५ ॥

लोचन पूरि रहे जल सों प्रभु दूर ते देखत ही दुख मेट्यो।
सोच भयो सुरनायक के कलपद्रुम के हिय माँझ खखेट्यो ॥
काँपि कुबेर हियं सरसे पग जात सुमेरहु रङ्क ससेट्यो।
राजभयो तबही जबही भरि अङ्क रमापति सों द्विज भेंट्यो ॥१६॥
ऐसे बिहाल बिवायन सों भये कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये

---

१४ ठाढ़ो—खड़ा ॥

१५ पगा—पगड़ी। झँगा—कुरता। पाँय—पांव में। उपानह—जूता। वसुधा—पृथ्वी। सामा—जमाव। अभिरामा—रमणीय, सुन्दर ॥

१६ सुरनायक—इंद्र। सोच—चिन्ता। कलपद्रुम—इच्छा पूर्ण करनेवाला वृक्ष। रमापति—कृष्ण ॥

देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये ॥१७॥

तन्दुल त्रिय दीने हुते आगे धरियो जाय।
देखि राजसम्पति विभव दै नहिं सकत लजाय ॥ १८ ॥

अन्तरयामी आप हरि जानि भक्ति की रीति।
सुहृद सुदामा विप्र सों प्रकट जनाई प्रीति ॥ १९ ॥

कछु भाभी हमको दियो सो तुम काहे न देत।
चाँपि गाँठरी काँख में रहे कहो किहि हेत ॥ २० ॥

आगे चना गुरु मात दिये ते
लिये तुम चाबि हमें नहिं दीने।
श्याम कही मुसकाय सुदामा सों
चोरि की बानि में हौ जु प्रवीने ॥
गाँठरी काँख में चापि रहे तुम
खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौ न तजी तुम
तैसे ही भाभी के तन्दुल कीने ॥ २१ ॥

---

१७ बिवायन—पैर के तलुओं के घाव। पग—पाँव ॥
१८ त्रिय—स्त्री। विभव—ऐश्वर्य ॥
२० चांपि—दबाकर। गाँठरी—गठरी। कांख—कक्ष (कच्छ) हेत—कारण ॥
२१ बानि—आदत। प्रवीन—निपुण। तजी—छोड़ी ॥

खोलत सकुचत गाँठरी चितवत हरि की ओर।
जीरण पट फट छुटि परे बिखरि गये तेहि ठौर ॥ २२ ॥

भौन भरे पकवान मिठाइन
लोग कहैं निधि हैं सुखमा के।
साँझ सबेरे पिता अभिलाषत
दाखन चाखत सिन्धु रमा के ॥
ब्राह्मण एक कोऊ दुखिया सेर
पावक चामर लायो समा के।
प्रीति की रीति कहा कहिए
तिहि बैठे चबावत कन्त रमा के ॥ २३ ॥

मूठी तिसरी भरत ही रुक्मिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई सम्पति की अनचाह ॥ २४ ॥
कही रुक्मिनी कान में यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामहि आपसो होत सुदामा आप ॥ २५ ॥

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहे नाथ कहा तुमने चित धारी।
तन्दुल खाय मुठी दुइ दान कियो तुमने दुई लोक भिखारी ॥
खाय मुठी तिसरी अब नाथ कहा निज वास की आस बिसारी।
रङ्कहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी ॥२६॥

---

२२ चितवत—देखना। जीरण—पुराना। ठौर—स्थान ॥
२३ सुखमा—शोभा । दाखन—अंगूर । रमा—लक्ष्मी ॥ कंत—कान्त, प्रिय ॥
२६—रङ्क—दरिद्र ॥

रूपे के रुचिर थार पायस सहित शोभा,
सब जीत लीनी शोभा शरद के चन्द की।
दूसरे परोस्यो भात सान्यो है सुरभि घृत,
फूले फूले फुलके प्रफुल्लित दुति मन्द की॥
पापर मुँगौरी बरा बेसन अनेक भाँति,
देवता विलोकि शोभा भोजन अनन्द की।
या विधि सुदामाजी को अच्छकै जिमाय फिर,
पाछेकै पछावरी परोसी आनि कन्द की॥ २७॥

कह्यो विश्वकर्मा को हरि तुम जाय करि,
नगर सुदामाजी को रचौ वेग अब ही।
रतन जटित धाम सुवर्णमयी सब,
कोट औ बजार बाग फूलन के तब ही॥
कल्पवृक्ष द्वार गज रथ असवार प्यादे,
कीजिए अपार दास दासी देव छबही।
इन्द्र औ कुबेर आदि देववधु अपसरा,
गन्धरबगुणी जहाँ ठाढ़े रहें सब ही॥ २८॥

निज नित सब द्वारावती दिखलाई प्रभु आप।
भरे बाग अनुराग सब जहाँ न व्यापहिं ताप॥ २९॥

---

२७ रूपा—चाँदी। रुचिर—सुन्दर। थार—थाल। पायस—खीर, तसमई। दुति—चमक।

२९ द्वारावती—द्वारिका।

परम कृपा दिन दिन करी कृपानाथ यदुराय।
मित्र भावना विस्तरी दूनों आदर भाय ॥ ३० ॥
देनो हुतो सो दे चुके विप्र न जानी बात।
चलती बेर गोपालजी कछू न दीनो हाथ ॥ ३१ ॥
गोपुर लों पहुँचाय के फिरे सकल दरबार।
मित्र वियोगी कृष्ण के नेत्र चली जल-धार ॥ ३२ ॥
हैं कब इत आवत हुतो वाही पठयो पेलि।
अब कहिहौं घर जाय के धन धन धरहु सकेलि ३३ ॥
बालापन के मित्र हैं कहा देउँ मैं शाप।
जैसो हरि हमको दियो तैसो पइयो आप ॥ ३४ ॥
और कहा कहिये जहाँ कञ्चन ही के धाम।
निपट कठिन हरि को हियो मो को दियो न दाम ॥ ३५ ॥
इमि सोचत सोचत झकत आये निज पुर तीर।
दृष्टि परी इकबारहीं हय गयन्द की भीर ॥ ३६ ॥

दाहिने वेद पढ़ें चतुरानन सामुहे ध्यान महेश धर्‍यो है।
बायें दोऊ कर जोर सुसेवक देवन साथ सुरेश खर्‍यो है ॥
एतन बीच अनेक लिए धन पायन आय कुबेर पर्‍यो है।
देखि विभो अपनो सपनो बपुरो वह ब्राह्मण चौंकि पर्‍यो है ॥३७॥

३५ कंचन—सोना। निपट— बिलकुल। दाम—दमड़ी।

३६ हय—घोड़ा। गयन्द—हाथी।

३७ चतुरानन—ब्रह्मा। सुरेश—इन्द्र। पायन—पाँव में। बपुरो—बेचारा।

वेई सुरतरु प्रफुलित फुलवारिन में,
वेई सुरवर हंस बोलन हिलन को।
वेई हेम हिरन दिशान दहलीजन में,
वेई गजराज हय गरज गिलन को॥
द्वार द्वार छड़ी लिये द्वार पौरिया जो खड़े,
बोलत मरोर बरजोर जो भिलन को।
द्वारका ते चल्यो भूलि द्वारका ही आयो नाथ,
माँगिहैं न मोपै चार चामर मिलन को॥ ३८॥

---

३८ वेई—वही। पौरिया—दरबान।

भूषण

भूषण कब पैदा हुए और कब उनका देहान्त हुआ, यह बात अभी तक सन्दिग्ध ही है। अनुमान से सं० १६६२ के लगभग इनका पैदा होना बताया जाता है। कानपुर ज़िले में यमुना के बायें किनारे पर एक तिकवाँपुर नाम का गाँव है। वहीं इनका जन्म हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। सुना जाता है, इनके पिता रत्नाकर त्रिपाठी देवी के बड़े उपासक थे। इनके बड़े भाई का नाम चिन्तामणि और इनसे छोटों का मतिराम और नीलकण्ठ था। ये सभी कवि थे।

कहते हैं कि भूषण पहले बिलकुल आलसी और निकम्मे थे। इनके बड़े भाई चिन्तामणि कमाते थे और ये घर पर आनन्द करते थे। एक दिन उन्होंने भोजन करते हुए अपनी भावज से नमक माँगा तो उसने ताना मारकर कहा, नमक कमा के लाये हो न कि निकालकर दे दूँ! यह बात उनके हृदय में चुभ गई; वे उसी समय घर छोड़कर चल दिये और बड़े परिश्रम से विद्या पढ़ने लगे। जब उनको कविता करने का अच्छा अभ्यास हो गया तब चित्रकूटाधिपति हृदयराम सोलङ्की के पुत्र रुद्रराम के पास गये। वहाँ जाकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया, जिससे इनको कवि-भूषण की

उपाधि मिली और तब से लोग इनका असली नाम छोड़कर इनको भूषण कहने लगे। इसके बाद भूषण औरङ्गज़ेब के दरबार में पहुँचे। वहाँ उन्हें अपने भाई की सहायता से कविमण्डली में स्थान मिल गया। वहाँ भी उन्होंने अपनी कविता का जादू फैलाया किन्तु एक बार बादशाह इनसे बिगड़ा और ये देहली से छत्रपति शिवाजी की राजधानी में चले गये। घटना यह है कि एक दिन में औरङ्गज़ेब ने अपनी सभा के कवियों से कहा कि क्या मुझमें कोई दोष नहीं है कि तुम लोग सदैव मेरी प्रशंसा ही करते हो! इस पर और तो सब चुप हो गये किन्तु भूषण ने अभय का वचन लेकर उसकी निन्दा में छन्द नं० ४ और ५ पढ़े। इससे औरङ्गज़ेब इतना बिगड़ा कि भूषण को वहाँ से भागना पड़ा।

जाते समय एक और घटना हुई। भूषण अपनी कबूतरी घोड़ी पर जा रहे थे कि उधर से हाथी पर सवार होकर औरङ्गज़ेब भी आ निकला। उन्होंने बादशाह की तरफ़ देखा तक नहीं। एक दरबारी ने पूछा—"कहाँ जाते हो" ? उन्होंने उत्तर दिया, "छत्रपति शिवाजी महाराज के दरबार में।" इस पर औरङ्गज़ेब ने उनको पकड़ने के लिए अपने सवार भेजे किन्तु उनकी कबूतरी घोड़ी को कोई न पा सका।

भूषण के रायगढ़ पहुँचने के सम्बन्ध में कथानक है कि वे एक मन्दिर में जाकर ठहरे। शिवाजी प्रायः शाम को गुप्तरूप से घूमा करते थे। टहलते टहलते वे भी वहाँ पहुँचे। शिवाजी

ने अठारह बार छन्द नं० १३ सुना किन्तु फिर भी उनकी तबीयत न भरी। पारितोषिक में उन्होंने भूषण को १८ लाख रुपया १८ हाथी और १८ गाँव दिये और उन्हें अपना राजकवि बनाया।

भूषण प्रतिभाशाली कवि ही न थे किन्तु स्वाभिमानी और जाति के परमहितैषी भी थे। औरङ्गज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता पर उन्हें अवश्य संक्षोभ हुआ होगा, उसके अत्याचारों को देखकर उनका वीर हृदय उमड़ आया होगा। शिवाजी की वीरता की चर्चा सुनकर उस हृदय को आश्वासन मिला होगा। अस्तु। शिवाजी की राजधानी रायगढ़ में पहुँचकर भूषण ने वीर-रस की कविता का कमाल दिखा दिया। इनकी कविता पर शिवाजी इतने मुग्ध हुए कि इनको लाखों रुपये, हाथी, गाँव आदि देकर निहाल कर दिया और अपना राजकवि बना लिया।

संवत् १७३२ के लगभग जब भूषण घर को लौटे तब रास्ते में छत्रसाल बुन्देला से मिले। वहाँ भी कुछ दिन तक बड़े आदर-सत्कार से रहे। चलते समय छत्रसाल ने भूषण की पालकी का डण्डा अपने कन्धे पर उठा लिया! यह देखकर भूषण पालकी पर से कूद पड़े और छत्रसाल की प्रशंसा में कुछ कवित्त बना कर पढ़े। छत्रसाल-दशक की कविता बड़ी ओजस्विनी है और भूषण की रचना में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। (१४, १५)।

घर पहुँचने से पहले भूषण ने एक लाख रुपये का नमक लेकर भावज के पास पहुँचा दिया। कविता से जितना धन और मान भूषण को मिला उतना हिन्दी के किसी कवि को कदाचित् ही मिला होगा।

कुछ दिनों घर रह कर भूषण कमाऊँ महाराज के यहाँ गये। जब वहाँ से चलने लगे तो महाराज ने यह जानने के लिए कि शिवाजी के यहाँ भूषण के सम्मानित होने की बात सच है या नहीं, उनको एक लाख रुपया देना चाहा किन्तु कविवर ने उत्तर में निवेदन किया कि महाराज, अब मुझे रुपये की ज़रूरत नहीं; मैं तो सिर्फ़ यह देखने आया था कि शिवाजी का यश यहाँ तक फैला है या नहीं। यह कहकर बिना धन लिये ही वे घर चले आये। इसके बाद भूषण फिर शिवाजी के पास गये। शिवाजी के मरने के बाद वे महाराज छत्रसाल के यहाँ आने जाने लगे।

भूषण के बनाये हुए सभी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। केवल शिवराजभूषण और कुछ फुटकर कविताओं के संग्रह एवं शिवाबावनी और छत्रसालदशक इस समय प्राप्य हैं।

इनकी कविता की भाषा मुख्यतः व्रजभाषा है, यद्यपि कहीं-कहीं प्राकृत से मिली हुई भाषा और बुन्देलखंडी बोली का भी प्रयोग दिखाई देता है। मालूम होता है, भूषण के समय में दक्खिनी लोग—कम से कम पढ़े-लिखे मनुष्य—हिन्दी समझ

लेते थे। अन्यथा हिन्दी में कविता करके भूषण इतने यश और सम्पत्ति के भाजन कैसे हो सकते थे!

भूषण जातीय कवि थे। वे हिन्दी में वीर रस के सबसे अच्छे कवि हैं। उनका हृदय विशाल था। हिन्दू जाति के दुःख उनसे न देखे जाते थे। आन पर मरनेवाली क्षत्रिय जाति के अधःपतन पर उनके वीर हृदय में ग्लानि और अमर्ष दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए। विहारी और सूर की नाज़ुक ख़याली पर उन्हें संक्षोभ हुआ। शिवाजी का नाम सुनकर उनका हृदय उछलने लगता था। वे वीर थे; नाज़ुक ख़याली उन्हें पसन्द न थी। शृंगार को अपनी कविता में स्थान देकर वे उसको सुकुमार नहीं बनाना चाहते थे। वे जानते थे कि नख-शिख का वर्णन करने तथा नायक-नायिका-भेद गिनवाने का यह समय नहीं है। इस वक़्त वीरों की नसों में नये रक्त का सञ्चार करना होगा; चिरकाल के नपुंसकों को पुरुष बनाना होगा। शिवाजी जैसे वीर की गुण-गाथा ओजस्विनी भाषा में लिखकर लोगों को उसका पाठ पढ़ाना होगा। इस तरह भूषण ने अपनी कविता में वीर, भयानक और रौद्र रसों को ही प्रधानता दी है। शब्द ऐसे चुन-चुनकर रक्खे हैं कि सुनते ही वीर रस और भयानक रस का सञ्चार होने लगता है। ध्वनिमात्र से ही हृदय का आशय झलकने लगता है। उन्होंने "शिवाजी के शत्रुओं को उनकी सेना से उतना ही डरवाया, जितना उनकी धाक से। जहाँ

देखिए वहीं शिवाजी की धाक से उनके शत्रु वनों में मारे मारे फिर रहे हैं, शत्रु की स्त्रियाँ और बच्चे घबड़ाये हुए भाग रहे हैं, मीर और अमीर काँप रहे हैं। इस प्रकार के भयानक रस-पूर्ण वर्णनों में भूषण ने अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रक्खा।"

संवत् १७७२ में भूषण इस असार संसार से चल बसे।

(१)

ऊँचे घोर मन्दर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं सो बीन बेर खाती हैं॥
भूषन सिथिल अङ्ग भूषन सिथिल अङ्ग,
बिजन डुलातीं ते अब बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

(२)

उतरि पलँग ते न दियो है धरा पै पग,
तेउ सगबग निसि दिन चली जाती हैं।

१ घोर—बहुत भयानक। मन्दर—मकान, पर्वत। कन्दमूल—मिठाइयाँ, जंगली फल। बेर—बार। बीन—चुनकर। भूषन—गहने, भूख। सिथिल—ढीले। बिजन—पंखा, निर्जन वन। भनत—कहता है। त्रास—डर। नगन—आभूषन, नंगे शरीर। जड़ाती—सज्जित, जाड़ा खाती हैं।

२ धरा—भूमि। सगबग—भयभीत। निस—रात। अकु-

अति अकुलातीं मुरझातीं न छिपातीं गात,
बात न सोहाती बोलैं अति अनखाती हैं ॥
भूषन भनत सिंह साही के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि-नारी बिललाती हैं।
कोऊ करैं घाती कोऊ रोतीं पीटि छाती,
घरै तीनि बेर खातीं ते वै बीनि बेर खाती हैं ॥

(३)

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार,
चारि को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।
ऐसी अरि-नारी सिवराज बीर तेरे त्रास,
पायन में छाले परे कंद मूल खाती हैं ॥
ग्रीषम तपनि एती तपती न सुनि कान,
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं।
तोरि तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख,
कहैं "अब कहाँ पानी मुकतौ में पाती हैं ?"

लाती—व्याकुल । सोहाती—अच्छी लगती है। अनखाती—नाराज़ होती। अरि—वैरी। बिल्लाती—बिलबिलाती। घाती—आत्मघात। घरै—घर में।

३ सोंधा—सुगंध। अधार—आधार, आश्रय। किसमिस—मेवा। आहार—खाना। चारि को सो अंक लंक—४ के अंक के मध्यभाग की तरह जिनकी कमर पतली है। पायन—पाँव। छाले—छाले। कंज—कमल। आछे—उत्तम। पिछौरा—चादर। मुकता—मोती।

(४)

किबले के ठौर बाप बादसाह साहिजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरि के कैद कियो,
मेहरहु नाहिं माको जायो सगो भाई है॥
बन्धु तौ मुरादबक्स बादि चूक करिबे को,
बीच लै कुरान खुदा की कसम खाई है।
भूषन सुकवि कहै सुनो नवरंगजेब,
एते काम कीन्हें फेरि पादशाही पाई है॥

(५)

हाथ तसबीह लिये प्रात उठ बन्दगी को,
आप ही कपट रूप कपट सु जप के।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हो,
छत्र हू छिनायो मनो बूढ़े मरे बप के॥
कीन्हो है सगोत-घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि,
पील पै तोरायो चार चुगुल के गप के।

४ किबला—पूज्य, देवता। ठौर—स्थान। ताको—उसको। मेहर—दया। हु—भी। बादि—व्यर्थ। चूक—दोष। बीच लै—साक्षी के तौर पर बीच में रखकर।

५ तसबीह—माला। बन्दगी—ईशवन्दना। कपट सु जप के—कपट का जप करके। बप—बाप। सगोत-घात—अपने गोत्रवालों की हत्या। पील पै तोरायो—हाथी से तोड़वाया। चार—दूत। छरछंदी—कपटी, छली। बिलारी—बिल्ली। तप के—तप करने के लिए।

भूषन भनत छरछंदी मतिमन्द महा,
सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी तप के ॥

(६)

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे डूबे राव राने सबी गये लबकी ।
गौरा गनपति आप औरन को देत ताप,
आपके मकान सब मरि गये दबकी ॥
पीरा पयगंबर दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की ।
कासिहु ते कला जाती मथुरा मसीत होती,
सिवाजी न होतो तौ सुनति होत सबकी ॥

(७)

कुम्भकर्न असुर औतारी अवरङ्गजेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरी रब की ।
खोदि डारे देवी देव सहर मुहल्ला बाँके,
लाखन तुरुक कीन्हे छूटि गई तबकी ॥

---

६ देवल—देवालय । निसान—झण्डा । लबकी—लपक, भाग । गौरा—पार्वती । गनपति—गणेश । ताप—दुःख । कासी—काशी । मसीत—मस्जिद । सुनति—खतना ।

८ बाँके—सुन्दर । तबकी—सम्प्रदाय, उपासना । भव—शिवजी । निवाज—निमाज़ ।

भूषन भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ,

और कौन गिनती मैं भूली गति भव की ।

चारौ वर्न धर्म छोड़ि कलमा नेवाज पढ़ि,

सिवाजी न होतो तौ सुनति होत सबकी ॥

(८)

अफजल खान को जिन्होंने मयदान मारा,

बीजापुर गोलकुण्डा मारा जिन आज है ।

भूषन भनत फरासीस त्यों फिरङ्गी मारि,

हबसी तुरुक डारे उलटि जहाज है ॥

देखत मैं रुसतमखाँ को जिन खाक किया,

साल की सुरति आजु सुनी जो अवाज है ।

चौंकि चौंकि चकता कहत चहुँघा ते यारो,

लेत रहौ खबरि कहाँ लौं सिवराज है ॥

(९)

गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,

दावा नाग-जूह पर सिंह सिरताज को ।

दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,

पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को ॥

९-चकता—औरङ्गज़ेब । चहुँघा—चारों ओर । खबरि—समाचार ।

१० नाग—सर्प, हाथी । जूह—यूथ, समूह । पुरहूत—इन्द्र । पच्छिन—पक्षियों । गोल—समूह । तम—अँधेरा । रवि—सूर्य । समाज—समूह ।

भूषन अखंड नवखंड महिमंडल मैं,
तम पर दावा रवि किरन समाज को।
पूरब पछाँह देश दच्छिन ते उत्तर लौं,
जहाँ पादसाही तहाँ दावा सिवराज को॥

(१०)

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरत फिरङ्गिन की नारी फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुबसाहि गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

(११)

मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्हीं जिन,
जेर कीन्हों जोर सों लैके हद सब मारे की।

---

१० दहसति—भय। चितै—चित्त को। चाह—इच्छा (शिवाजी की सेना के समाचार सुनने की इच्छा)। करषति—आकर्षण करती। फिरत—फिरते हुए। नारी—नाड़ी। फरकती—फड़कती। हहरि—डरकर। भरकती—डर से भागती। केते—कितने। दरकती—फटती।

११ खाकसाही—खाक सियाह। जेर—अधीन। खिसि—गिर। सेखी—शेखी। हिसि—छूट। दमामा—भारी नगारा। धौंसा—डङ्का। भारे—बड़े आदमी।

खिसि गई सेखी फिसि गई सूरताई सब,
हिसि गई हिम्मत हजारों लोग सारे की ॥
बाजत दमामे लाखौं धौंसा आगे घहरात,
गरजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे की।
दूलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामे वारे,
दिल्ली दुलहिनि बनी सहर सितारे की ॥

१२

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं ॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं ॥

१३

इन्द्र जिमि जम्भ पर बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुलराज है।

---

१२ रसना—जिह्वा। रोटी—जीविका। गर—गला। कर—हाथ। तेग—तलवार।

१३ जिमि—जैसे। जम्भ—एक राक्षस का नाम। बाड़व—पानी में रहनेवाली आग। सुअम्भ—समुद्र। सदम्भ—कपटी।

पौन बारिबाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाह पर राम द्विजराज है ॥
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृगझुण्ड पर,
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है ॥

(१४)

कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यो आन पै
निदान दान युद्ध में न कोऊ ठहरात हैं।
पञ्चम प्रचण्ड भुज-दण्ड को बखानि सुनि,
भागिबे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं ॥
सङ्का मानि सूखत अमीर दिलीवारे जब,
चम्पति के नन्द के नगारे घहरात हैं।
चहुँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर,
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं ॥

पौन—पवन । बारिबाह—बादल । सम्भु—शिव । रतिनाह—कामदेव । रामद्विजराज—परसराम । दावा—अग्नि । द्रुमदण्ड—वृक्ष का तना । वितुण्ड—हाथी । मृगराज—शेर । अंस—भाग । कान्ह—कृष्ण । मलिच्छ—म्लेच्छ, मुसलमान । सेर—शेर ।

१४ कीबे—करने । पञ्चम—छत्रसाल का पूर्वज । पच्छी—पक्षी । थहरात—काँपते । चम्पति—छत्रसाल का पिता । नन्द—लाल, पुत्र । घहरात—गूँजते । चहुँ—चारों । चकित—घबराये हुए । चकत्ता—औरङ्गज़ेब । दलन—फ़ौज । छत्ता—छत्रसाल । पताका—झण्डा ।

(१५)

राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजनहिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को॥
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हे,
भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ?
और राव राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब,
साहू को सिराहौं कै सिराहौं छत्रसाल को॥

---

१५ राजत—चमकता है। छाजत—छाया है। सुजस—सुयश। गयन्द—हाथी। तुरी—घोड़ा। पैदरि—पैदल। साहू—शिवाजी का पोता। सराहौं—प्रशंसा करूँ।

देवीप्रसाद 'पूर्ण'

'पूर्ण' संवत् १९२५ के मार्गशीर्ष की कृष्णा त्रयोदशी को जबलपुर में पैदा हुए थे। इनके पिता राय वंशीधर वकील जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे। राय की पदवी इनके पूर्वजों को बादशाही ज़माने में मिली थी जो अब तक इनके वंश में चली आती है। इनके पुरखा कानपुर ज़िले के भदरस गाँव में रहते थे। जिस समय पूर्ण चार वर्ष के थे तभी इनके पिता संसार से चल बसे थे। अतएव इनकी शिक्षा का भार इनके चाचा राय लीलाधरजी पर पड़ा।

'पूर्ण' पर परिस्थिति का अच्छा असर पड़ा। बचपन ही से इनकी पढ़ने में बड़ी रुचि हो गई; बुद्धि भी बाल्यकाल ही से असाधारण थी। सन् १८८४ में उन्होंने कलकत्ता-यूनिवर्सिटी की मैट्रिक की परीक्षा दी और उसमें प्रथम रहे; एफ़० ए० की परीक्षा में भी वे सर्वोत्तम रहे। बी० ए० पास करने पर यह निश्चित हुआ कि उन्हें अपना पैतृक पेशा——वकालत——ग्रहण करना चाहिए। इसलिए कलकत्ता-यूनिवर्सिटी से उन्होंने 'ला' की परीक्षा दी; उसमें वे तीसरे रहे। इसके बाद वे कानपुर में वकालत करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने वहाँ के वकीलों में सर्वोच्च पद प्राप्त किया।

पूर्णजी यथाशक्ति सार्वजनिक कामों में भी भाग लिया करते थे। कानपुर के सार्वजनिक जीवन को उन्नति-पथ पर चलाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। बहुत दिनों तक वे कानपुर म्युनिसिपैलिटी के सभासद रहे। कानपुर की धार्मिक अवस्था की दुर्दशा देखकर उन्होंने पहले सनातन-धर्म-प्रवर्धिनी सभा का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया और फिर उसके स्थान में श्रीब्रह्मावर्त-सनातनधर्म-महामण्डल की स्थापना की। ये अच्छे वक्ता भी थे।

कानपुर में जब श्रीमान् मालवीयजी हिन्दू-विश्व-विद्यालय के डेपुटेशन के साथ चन्दे के लिए गये थे तब आपने एक उत्तम स्वागत-कविता पढ़ी थी और ५,०००)रु० चन्दे में दिये थे। १९१५ में वे गोरखपुर के युक्तप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बने थे। वे एक पत्र का सम्पादन भी करते थे।

'पूर्ण' कट्टर सनातनधर्मी थे। कहीं कहीं अन्य मतों के प्रति उनके विचार संकुचित और अनुदार थे। वे सादगी को बहुत पसन्द करते थे और बड़े मिलनसार थे। गाने-बजाने में उनकी बड़ी रुचि थी। नाटकों का भी उन्हें बड़ा शौक था। प्रतिवर्ष अपने गाँव में रामलीला कराते थे और उसमें स्वयं केवट का पार्ट लेते थे।

ता० ३० जून १९१५ को, लगभग ४७ वर्ष की अवस्था में ही, 'पूर्ण' की लोक-लीला समाप्त हो गई।

अभी हाल में 'पूर्ण-संग्रह' नामक पुस्तक में इनकी सब कविताओं का संग्रह छपा है। 'पूर्ण' कभी कभी खड़ी बोली में भी कविता लिखते थे तथापि वे मुख्यत: ब्रजभाषा के ही प्रेमी थे।

जागिए

(१)

विगत आलस की रजनी भई;
रुचिर उद्यम की द्युति छै गई।
कुमति नींद अहो अब त्यागिए;
भारतखण्ड-प्रजागण जागिए।

(२)

चल गई उपदेश हवा भली;
खिल गई जन के मन की कली।
सुमति भैरव के स्वर रागिए;
भारतखण्ड-प्रजागण जागिए।

(३)

सदुपदेश विहंगम तात है?
प्रबल बाद सुकुक्कुट तान है।
विहित कारज में उठि लागिए;
भारतखण्ड-प्रजागण जागिए।

---

१ विगत—व्यतीत। रजनी—रात। रुचिर—सुन्दर। द्युति—चमक।
२ भैरव—राग विशेष।

(४)

जलज-पुञ्ज मनोरथ के खिले;
मधुप हैं पुरुषारथ के मिले।
विहित कारज में हठ लागिए;
भारतखण्ड-प्रजागण जागिए।

(५)

उदित सूरज है नव भाग को;
अरुन रङ्ग नए अनुराग को।
तजि बिछौनन को अब भागिए;
भारतखण्ड-प्रजागण जागिए

कादम्बरी

(१)

करके सुर तालन को बिसतार, सितार प्रवीन बजावती है;
परिपूरन रागहु के मन में, अनुराग अपार जगावती है।
गुन-आगरी भाग सोहाग भरी, नवनागरी चाव सों गावती है;
छबिधाम है नाम है "कादंबरी", धुनि कादंबरी की लजावती है।

---

४ जलज-पुञ्ज—कमल-समूह। मधुप—भौंरा। विहित—निश्चित।

५ अरुन—लाल।

१ आगरी—चतुरा। नागर—दक्ष, निपुण। कादम्बरी—सरस्वती; मैना या कोयल की वाणी।

(२)

मन खैंचति तार के खैंचत ही, उमहैं अब "जोड़" बजावन में;
उमगैं मधुरे सुर की लहरी, गहरी "दमकैं" दरसावन में।
चपलाई हरै थिरता चित की, अँगुरी "मिजराब" चलावन में;
मन भावन गावन के मिस बाल, प्रवीन है चित्त चुरावन में।

(३)

ए मन सोरठ देस हमीर, बहार बिहाग मराल रसीली;
शंकर सोहनी भैरव भैरवी, गूजरी रामकली सरसीली।
गौर बिलावल जोगिया सारँग, पूरिया आसावरी चटकीली;
बोल समै जो बजायो करै, तिय गायो करै मिलि तान सुरीली।

(४)

दृग सोहैं सितार के मोहैं मनै, गति ध्यान में सोहैं चढ़ी ध्रुव बेली;
सुर भेद भरे परदे तिन में, भई जाति-सी लीन प्रवीन नवेली।
कर बाम की बाम की चंचल अँगुरीं, देखि फबै उपमा यह अकेली;
नटराज मनोज की नाचैं मनो, इकतार है पुतरिया अलबेली॥

(५)

लखि कोमल अँगुरी नागरी की, अति आगरी तार बजावन में;
अनुमान रचै मन 'पूरन' को, उपमान की खोज लगावन में।
दल मंजु अशोक को कम्प समेत, वृथा कवि लागे बतावन में;
सुरताल थली यह कंजकली, भली नाचती राग के भावन में॥

२ उमहैं—उमड़े। दमक—झलक। लहरी—मनमौजी।
थिरता—स्थिरता।

(६)

उर प्रेम की जोति जगाय रही, मति को बिनु यास घुमाय रही;
रस की बरसात लगाय रही, हिय पाहन से पिघलाय रही।
हरियाले बनाय के रूखे हिये, उतसाह की पँगे झुलाय रही;
इक राग अलापि के राग भरी, खटराग प्रभाव दिखाय रही॥

गङ्गाजी की महिमा

हाँ देखो कैसी धवल जल-धारा,
गङ्गा सुमनमन्दाकिनी धाई धूम-धाम से,
सुधा-सी देवधाम से धाई धरातल धारा,
ब्रह्म कमण्डल अमल हिमाञ्चल।
आर्यधरा, कानिकरा, जाय राजी समुद्र अपारा,
सत्य सतोगुन सुखमावारी,
अमित चन्द्र की-सी उजियारी,
देवसरी, क्षेमकरी, तारि देति कलुष परिवारा।
'पूरन' सन्त तपस्वी सज्जन,
करि करि दरस परस अरु मज्जन,
पातक खोवैं, प्रमुदित होवैं,
पावैं शान्ति सुख-सारा।

धवल—सफ़ेद। कानिकरा—मान करनेवाली। राजी—पंक्ति। देवसरी—सुरनदी, गंगा। कलुषपरिवार—पापसमूह। मज्जन—स्नान। परस—स्पर्श। प्रमुदित—प्रसन्न।

याही के किनारे धारे,
ईश्वर को ध्यान प्यारे;
योग के करनहारे सेवैं वन को।
शंकर के रङ्ग ऐसी,
सत्य के उमँग ऐसी
गङ्गा की तरङ्ग को भुलावैं मन को।

गङ्गाजी की शोभा

चामर-सी चन्दन-सी चन्द्रिका-सी चन्द ऐसी,
चाँदनी चमेली चारु चाँदी-सी सुघर है;
कुन्द-सी, कुमुद-सी, कपूर-सी कपास-ऐसी,
कल्पतरु-कुसुम-सी कीरति-सी वर है।
'पूरन' प्रकास-ऐसी काँस-ऐसी हास-ऐसी,
सुख के सुपास ऐसी सुखमा की घर है;
पाप को जहर-ऐसी कलि को कहर-ऐसी,
सुधा की छहर-ऐसी गङ्गा की लहर है॥

मन बन्दर

तुझे पहिचान लियो मैं बन्दर;
कूदा फिरता है त्रिभुवन में, बँधा भवन के अन्दर।
तू बाजीगर जादूगर है, बहुरूपिया कलन्दर;
छोटा कभी कभी तू भारी, मच्छर कभी मछन्दर।
कभी सवार कभी तू पैदल, दारा कभी सिकन्दर;

कभी महन्त सन्त गुरु चेला, कभी कुबेर पुरन्दर।
कभी कुदै राई से दबकर कभी ढहावै मन्दर;
जल में कभी आग में विचरै, मगरा कभी समुन्दर।
अरे अनारी तू मछली है, यह सब अगम समन्दर;
नछल-कूद, निष्फल विचार निज 'पूरन' त्याग न कन्दर ॥

प्रेम-पाश

अद्भुत डोरी प्रेम की जामें बाँधे दोय।
ज्यों ज्यों दूर सिधारिए त्यों त्यों लाँबी होय॥
त्यों त्यों लाँबी होय अधिकतर राखै कसिकै।
नेह न्यून हो सकत नेक नहिं दूरहु बसिकै।
बिधिना देत बिछोह, कहूँ तासों कर जोरी।
रखिए छेम समेत, प्रेम की अद्भुत डोरी॥

पुरन्दर—इन्द्र।

मैथिलीशरण गुप्त

वर्तमान समय के प्रसिद्ध हिन्दी-कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त संवत् ९४२ में चिरगाँव, झाँसी में पैदा हुए। इनके पिता सेठ श्रीरामचरणजी कविता के बड़े प्रेमी थे और स्वयं भी कविता किया करते थे। गुप्तजी पाँच भाई हैं जिनमें सियारामशरणजी भी अच्छे कवि हैं; इनका बनाया हुआ 'मौर्यविजय' काव्य बहुत सुन्दर है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली (आधुनिक हिन्दी) के उत्कृष्ट कवि हैं। देश-प्रेम तो इनकी कविता में कूट कूट-कर भरा है। रचना बड़ी सरल और मनोज्ञ है। भाषा परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत है। केशव ने जिस तरह शब्दों की दुर्गति की है वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सरस्वती की स्वच्छ धारा अपने स्वाभाविक रूप में बह रही है—बोलचाल की भाषा ही कविता की भाषा है। ब्रज-भाषा का माधुर्य उसमें भले ही न हो किन्तु अपने प्रसाद गुण और स्वारस्य के कारण गुप्तजी की कविता एक-दम हृदय में स्थान कर लेती है। यही कारण है कि इनकी कविता बड़े चाव से पढ़ी जाती है। इन्होंने आज तक जितनी पुस्तकें बनाई हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—भारत-भारती, जयद्रथवध, रङ्ग में भङ्ग, किसान, पद्यप्रबन्ध, शकुन्तला, विरहिणी ब्रजाङ्गना,

पत्रावली, वैतालिक, चन्द्रहास, तिलोत्तमा और पलासी का युद्ध। इनमें भारत-भारती सबसे बड़ा है। इसका प्रचार भी बहुत है।

गुप्तजी संस्कृत भी पढ़े हुए हैं और बँगला भाषा में भी इनका अच्छा प्रवेश है। ये "बड़े सरसहृदय, मिलनसार, शुद्धप्रकृति और मिथ्याभिमान-रहित पुरुष हैं।"

भारतवर्ष की श्रेष्ठता

(१)

भूगोल का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गङ्गाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है॥

(२)

हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?
भगवान की भव-भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है।
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है॥

---

१ भूगोल—पृथ्वी। लीला-स्थल—क्रीड़ा-स्थान। गिरि—पर्वत। उत्कर्ष—प्रधानता, श्रेष्ठता।

२ पुरातन—पुराना। भवभूतियां—जगत् के ऐश्वर्य।

(३)

यह पुण्य-भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी 'आर्य' हैं,
विद्या, कला-कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य हैं।
सन्तान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े,
पर चिह्न उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े॥

(४)

शुभ शान्तिमय शोभा जहाँ भव-बन्धनों को खोलती,
हिलमिल मृगों से खेल करती सिंहनी थी डोलती;
स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ,
उन ऋषिगणों से ही हमारा था हुआ उद्भव यहाँ॥

(५)

उन पूर्वजों की कीर्त्ति का वर्णन अतीव अपार है,
गाते हमी गुण हैं न उनके, गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे ध्रुव धीर थे॥

(६)

उनके अलौकिक दर्शनों से दूर होता पाप था,
अति पुण्य मिलता था तथा मिटता हृदय का ताप था।

---

३ अधोगति—गिरना।
४ भव—जन्म। उद्भव—उत्पत्ति।
५ ध्रुव—स्थिर।
६ निवारक—हटानेवाले।

उपदेश उनके शान्तिकारक थे निवारक शोक के,
सब लोक उनका भक्त था, वे थे हितैषी लोक के ॥

(७)

वे ईश-नियमों की कभी अवहेलना करते न थे,
सन्मार्ग में चलते हुए वे विघ्न से डरते न थे।
अपने लिए वे दूसरों का हित कभी हरते न थे,
चिन्ता-प्रपूर्ण, अशान्ति-पूर्वक वे कभी मरते न थे ॥

(८)

वे मोह-बन्धन-मुक्त थे, स्वच्छन्द थे स्वाधीन थे,
सम्पूर्ण सुख-संयुक्त थे, वे शान्ति-शिखरासीन थे।
मन से, वचन से, कर्म से वे प्रभु-भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के वे मनोहर मीन थे ॥

(९)

वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे,
वे स्वार्थ-रत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।
संसार के उपकार-हित जब जन्म लेते थे सभी,
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी ॥

---

७ अवहेलना—तिरस्कार।

८ शिखरासीन—चोटी पर बैठे हुए। विख्यात—प्रसिद्ध। नद—दरिया। मीन—मछली।

९ रत—लगे हुए।

(१०)

आदर्श जन संसार में इतने कहाँ पर हैं हुए ?
सत्कार्य्य-भूषण आर्य्य-गण जितने यहाँ पर हैं हुए।
हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे,
पर दूसरों के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे॥

(११)

गौतम, वशिष्ठ-समान मुनिवर ज्ञानदायक थे यहाँ,
मनु, याज्ञवल्क्य समान सत्तम विधि-विधायक थे यहाँ।
वाल्मीकि, वेदव्यास से गुण-गान-गायक थे यहाँ,
पृथु, पुरु, भरत, रघु-से अलौकिक लोक-नायक थे यहाँ॥

(१२)

लक्ष्मी नहीं, सर्वस्व जावे, सत्य छोड़ेंगे नहीं,
अन्धे बनें पर सत्य से सम्बन्ध तोड़ेंगे नहीं।
निज सुत-मरण स्वीकार है पर वचन की रक्षा रहे,
है कौन जो उन पूर्वजों के शील की सीमा कहे ?

(१३)

सर्वस्व करके दान जो चालीस दिन भूखे रहे,
अपने अतिथि-सत्कार में फिर भी न जो रूखे रहे।
पर-तृप्ति कर निज-तृप्ति मानी रन्तिदेव नरेश ने,
ऐसे अतिथि-सन्तोष-कर पैदा किये किस देश ने ?

११ सत्तम—अत्युत्तम। विधि-विधायक—नियम बांधनेवाले। नायक—नेता।

(१४)

आमिष दिया अपना जिन्होंने श्येन-भक्षण के लिए,
जो बिक गये चाण्डाल के घर सत्य-रक्षण के लिए!
दे दीं जिन्होंने अस्थियाँ परमार्थ-हित जानी जहाँ,
शिवि हरिश्चन्द्र दधीचि-से होते रहे दानी कहाँ ? ॥

(१५)

सत्पुत्र पुरु-से थे जिन्होंने तात-हित सब कुछ सहा,
भाई भरत-से थे जिन्होंने राज्य भी त्यागा अहा !
जो धीरता के, वीरता के प्रौढ़तम पालक हुए,
प्रह्लाद, ध्रुव, कुश, लव तथा अभिमन्यु-सम बालक हुए ॥

(१६)

वह भीष्म का इन्द्रिय-दमन, उनकी धरा-सी धीरता,
वह शील उनका और उनकी वीरता गम्भीरता ।
उनकी सरलता और उनकी वह विशाल विवेकता,
है एक जन के अनुकरण में सब गुणों की एकता ॥

—"भारत-भारती"

---

१४ आमिष—मांस । श्येन—बाज । अस्थि—हड्डी ।

१५ प्रौढ़तम—अतिशय निपुण ।

१६ दमन—संयम । धरा—पृथिवी । विवेकता—निर्णयात्मिका बुद्धि । अनुकरण—पीछा करना ।

महारानी सीसोदनी का पत्र

(महाराज जसवन्तसिंह के नाम)

(१)

हे ना—नहीं, नाथ नहीं कहूँगी,
अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे ?

(२)

यथार्थ ही क्या मुँह को छिपाये,
संग्राम से हो तुम भाग आये ?
धिक्कार है हा ! अब क्या करूँ मैं,
रक्खी कहाँ मौत कि जो मरूँ मैं ?

(३)

हा पीठ वैरी-दल को दिखा के,
त्यों हार माथे पर यों लिखा के;
आये दिखाने मुँह हो यहाँ क्या ?
भला बनेगा तुमसे कहाँ क्या ?

(४)

परन्तु मैं होकर वीरबाला,
जो लोक में है करती उजाला;
देखूँ तुम्हारा मुँह आज कैसे ?
सहूँ कहो तो यह लाज कैसे ?

(५)

आये यहाँ क्या छिपने घरों में ?
या रानियों के घन-घाँघरों में ?
परन्तु भागे तुम भीरु ज्योंही,
हुए कहो क्या हत वे न त्यों ही ?

(६)

जो मृत्यु की थी इस भाँति भीति,
जो मेटनी थी निजरीति नीति;
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था ?
क्यों ब्याह राना-कुल में किया था ?

(७)

जयाब्धिजा को न वरा गया जो,
न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो;
तो क्या मरा भी न गया समक्ष,
डूबा सभी हा तुमसे स्वपक्ष ॥

(८)

राठौर ! क्या लाज तुम्हें न आई,
जो कीर्ति दोनों कुल की मिटाई !

---

५ घन-घाँघरा—घँघरा, लहँगा ।

६ भीति—भय ।

७ जयाब्धिजा—विजयलक्ष्मी । सिन्धु—समुद्र । समक्ष—आँखों के सामने ।

८ अमरत्व—मुक्ति ।

क्या देह से है यश हाय ! छोटा,
या मृत्यु से है अमरत्व खोटा ?

(९)

सङ्ग्राम में जो तुम काम आते,
तो लोक में निश्चय नाम पाते;
मैं भी सती होकर धन्य होती,
न क्षत्रिया होकर आज रोती ॥

(१०)

न भाग्य में था यह किन्तु मेरे,
दुर्दैव ! हैं ये सब काम तेरे ।
तू जो करे सो सब ठीक ही है,
मनुष्य विश्वास अलीक ही है ॥

(११)

माँ मेदिनी, तू फट, मैं समाऊँ,
कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊँ ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती,
तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ?

(१२)

नहीं नहीं, मैं यदि भीरु-भार्या,
तो कौन होगी फिर और आर्या ?

---

१० अलीक—झूठा ।

११ मेदिनी—पृथिवी । त्राण—रक्षा । भीरु—कायर ।

हाँ, है तुम्हीं ने कुल लाज खोई,
परन्तु मेरे तुम हो न कोई !!

(१३)

सीसोदियों के बन के जमाई,
है कीर्ति अच्छी तुमने कमाई !
आई तुम्हें लाज न नाम की भी,
रक्षा न होगी अब धाम की भी !

(१४)

सुना तुम्हें था वर-वीर मैंने,
सौंपा तभी था स्वशरीर मैंने !
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी,
हुई अभी है यह ज्ञात सारी ॥

(१५)

विशाल वक्षःस्थल दीर्घ-भाल,
आजानु लम्बे युग बाहु-जाल—
थे देखने ही भर के तुम्हारे,
ज्यों चित्र में अङ्कित अङ्ग सारे ॥

---

१३ जमाई—जमाता। धाम—घर, देश ।

१४ ज्ञात—मालूम ।

१५ वक्षःस्थल—हृदय (सीना) । आजानु—गोड़ों तक
युग—जोड़ा ।

(१६)

या क्षत्रियों का यह उष्ण रक्त,
हुआ यहाँ लों अब है अशक्त;
बहा सके जो न विपक्षियों को,
दुराग्रही गो-धन-भक्षियों को ॥

(१७)

दैवात् कभी शत्रु कुदृष्टि लावें,
सोत्साह मेरे हरणार्थ आवें;
तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो ?
आश्चर्य क्या जो मुँह मोड़ भागो !

(१८)

विश्वास क्या भीत-पलातकों का ?
स्वकर्म वा धर्म-विघातकों का ?
कर्तव्य से जो च्युत हो चुके हों,
क्या है जिसे वे न डुबा चुके हों ?

(१९)

जाओ, यहाँ से तुम लौट जाओ,
तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि पाओ;

१६ उष्ण—गरम ।
१८ भीत-पलातक भय से भागे हुए । च्युत—गिर ।
१९ ठौर—स्थान । पौर—नगर-सम्बन्धी फाटक, द्वार ।

हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर,
है गीदड़ों को इसमें न ठौर ॥

(२०)

चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी,
मैंने किया हो अपराध भारी;
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी,
कैसे कहूँ हा ! न यथार्थ वाणी ?

(२१)

मेरा तुम्हारा न मिलाप होगा,
हा शान्त कैसे यह ताप होगा ?
विश्वेश लेवें सुध शीघ्र मेरी,
देवें मुझे मृत्यु करें न देरी ॥

अभिमन्यु-दाह

(१)

इस ओर देखकर पाण्डवों की शान्तिदायी सान्त्वना,
सौभद्र-शव-संस्कार की श्रीकृष्ण ने की योजना।

२० अवज्ञा—अपमान।

२१ विश्वेश—जगत्पति।

१ शान्तिदायी—शान्ति देनेवाली। सान्त्वना—ढाढ़स, धीरज। शव—मृतदेह। योजना—तैयारी। कृष्णा—द्रौपदी। वेष्टित—घेरा हुआ। प्रसून—पुष्प।

कृष्णादि से वेष्टित उसे भगवान ने देखा तथा,
सुरभी लताओं के निकट सूखा प्रसून पड़ा यथा ।।

(२)

कृष्णा सुभद्रा आदि को अवलोक कर रोते हुए,
हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ कुछ करुणरस-कण चुए ।
आते हुए अवलोक उनको देह भान विसार के,
बोली सुभद्रा—मृतक-वत्सा गो-समान—पुकार के ।।

(३)

"भैया, कहो मेरे दृगों का आज तारा है कहाँ ?
मुझ दुःखिनी हतभागिनी का दुःख सारा है कहाँ ?
सम्पूर्ण गुण-सम्पन्न वह अनुचर तुम्हारा है कहाँ ?
हा ! पाण्डुवंश-प्रदीप अब अभिमन्यु प्यारा है कहाँ ?

(४)

"भैया, तुम्हें क्या विश्व में मुझको दिखाना था यही ?
हा ! जल गया यह हतहृदय, दृग-ज्योति सब जाती रही !
तव काल-गति के मार्ग में अभिमन्यु ही था क्या अहो ?
करुणानिधे ! करुणा तुम्हारी हाय ! यह कैसी कहो ?"

---

२ अवलोक—देख । मृतक-वत्सा—जिसका बछड़ा मर गया हो।

३ दृग—नेत्र । अनुचर—सेवक ।

(५)

रोने लगी यों कह सुभद्रा, दुःख वेग न सह सकी,
पर रुद्धकण्ठा द्रौपदी कुछ भी न उससे कह सकी।
बस अश्रु-पूर्ण विलोचनों से देखकर हरि को वहाँ,
निर्जीव सी वह रह गई बैठी जहाँ की ही तहाँ॥

(६)

मानो गिरा भी कह सकी पीड़ा न उसकी हार के,
अतएव वह चुप रह गई हरि के समक्ष निहार के।
पर अश्रुजल-अवरुद्ध उसकी दृष्टि ने मानो कहा—
'अब और क्या इस दुःखिनी को देखना बाकी रहा!'

(७)

यों जानकर सबको दुखी, लख उत्तरा-उत्ताप को,
भूले रहे भगवान भी कुछ देर अपने आपको।
फिर रोक करुणा-वेग सबको शीघ्र समझाने लगे,
उस शोक-सागर से उन्हें तट ओर ले जाने लगे॥

(८)

"धीरज धरो कृष्णे, अहा! भद्रे सुभद्रे! शान्त हो,
है गति यही तनुधारियों की शोक से मत भ्रान्त हो।

---

५ रुद्धकण्ठा—जिसका गला रुँधा हुआ हो। विलोचन—नेत्र।
६ गिरा—वाणी। निहार के—देखकर। अवरुद्ध—रुकी हुई।
७ उत्ताप—अत्यन्त कष्ट।
८ तनुधारी—शरीरधारी, प्राणी। भ्रान्त—घबराओ।

यह कौन कह सकता कि अब अभिमन्यु जीवित है नहीं ?
जग में सदा को कीर्त्ति करना है भला मरना कहीं ?

(९)

"जब तक प्रकाश समर्थ होगा अन्धकार-विनाश में,
जब तक उदय होते रहेंगे सूर्य-शशि आकाश में।
अभिमन्यु का विश्रुत रहेगा नाम तब तक सब कहीं,
नश्वर जगत में जन्म लेकर वीर मरते ही नहीं ॥

(१०)

आजन्म तप करके कठिन मुनि भी न जा सकते जहाँ,
संसार के बन्धन कभी कोई न आ सकते जहाँ;
अक्षय्य सब सुख हैं जहाँ दुख एक भी होता नहीं,
सच मानकर मेरे वचन अभिमन्यु को जानो वहीं ॥

(११)

वह वीर नश्वर देह तजकर आप तो है ही जिया,
पर, सत्य समझो, है तुम्हें भी अमर उसने कर दिया।
ऐसे समर्थ सपूत का तुम शोक करती हो अहो !
उसकी सहज की मृत्यु में गौरव कहाँ था यह कहो ?"

९ विश्रुत—प्रसिद्ध । नश्वर—नाश होनेवाला ।
१० अक्षय्य—क्षीण न होनेवाला ।

(१२)

कहकर वचन भगवान ने यों ज्ञान जब उनको दिया,
कुछ शान्त जब हरि-सान्त्वना से हो गया उनका हिया;
तब युग दृगों से दुःखमय अविरल सलिल-धारा बहा,
पाकर तनिक अवलम्ब सा यों याज्ञसेनी ने कहा—॥

(१३)

"धिक्कार है हे तात ! ऐसी अमरता पर लोक में,
जीना किसे स्वीकार है आजन्म रहकर शोक में ?
पूरे हुए हैं क्या हमारे पूर्व पाप नहीं अभी ?
हा ! वह हमारा पुत्र प्यारा फिर मिलेगा क्या कभी ?

(१४)

"अभिमन्यु को मृत देखकर भी हाय ! मैं जीती रही,
हा ! क्यों न मुझ हतभागिनी के अर्थ फट जाती मही !
दुख भोगने ही के लिए क्या जन्म है मेरा हुआ ?
हा ! कब रहा जीवन न मेरा शोक से घेरा हुआ ?

(१५)

"मेरे हृदय के हर्ष हा ! अभिमन्यु, अब तू है कहाँ ?
दृग खोलकर बेटा, तनिक तो देख हम सबको यहाँ !
मामा खड़े हैं पास तेरे, तू मही पर है पड़ा !
निज गुरुजनों के मान का तो ध्यान था तुझको बड़ा ॥

---

१२ हिया—हृदय। अविरल—निरन्तर। सलिल—जल। तनिक—ज़रा। अवलम्ब—सहारा। याज्ञसेनी—द्रौपदी।

(१६)

"व्याकुल तनिक भी देखकर तू धैर्य देता था मुझे,
पर आज मेरे पुत्र प्यारे, होगया है क्या तुझे ?
धात्री सुभद्रा को समझकर मा मुझे था मानता,
पर आज तू ऐसा हुआ मानो न था पहचानता ॥

(१७)

"हा ! पाँच ग्रामों की बुरी यह सन्धि जब होने लगी,
सुनकर तथा उस बात को जब मैं बहुत रोने लगी।
क्या याद है ? था पाण्डवों के सामने तूने कहा—
'स्वीकृत नहीं यह सन्धि मुझको, माँ ! न तू आँसू बहा ॥'

(१८)

"रहते हुए भी शस्त्रधारी पाण्डवों के साथ में,
हा ! तू अकेला हत हुआ पड़ पापियों के हाथ में !
कोई न कुछ भी कर सका ऐसा अनर्थ हुआ किया,
धिक् पाण्डवों की शूरता धिक् शस्त्र-धारण की क्रिया ॥"

(१९)

कहती हुई यों द्रौपदी का कण्ठ गद्गद होगया,
विष-वेग के सम शोक से चैतन्य उसका खो गया।

---

१६ धात्री—धाया।

१९ चैतन्य—चेतनता, होश। सजग—जगाकर, होश में लाकर। व्यजन—पंखा। उपचार—उपाय, चिकित्सा के लिए प्रयोग।

हरि ने सजग कर तब उसे व्यजनादि के उपचार से,
दी सान्त्वना समयोपयोगी ज्ञान के विस्तार से॥

(२०)

"अभिमन्यु के दर्शन बिना तुमको न रोना चाहिए,
उसकी परम-पद-प्राप्ति सुनकर शान्त होना चाहिए।
ले जन्म क्षणभंगुर जगत् में कौन मरता है नहीं ?
पर है उचित मरना जहाँ तक वीर मरते हैं वहीं॥

(२१)

अभिमन्यु के घातक सभी अति शीघ्र मारे जायँगे,
तुम स्वस्थ हो, इस पाप का वे दण्ड पूरा पायँगे।
करते अभी तक पार्थ थे जो युद्ध करुणाधीन हो,
बन जायँगे अब रुद्र रण में, रोष में अति लीन हो॥

(२२)

"होगा जयद्रथ कल निहत, प्रण कर चुके अर्जुन अभी,
धीरज धरो अतएव मन को शान्त करके तुम सभी।
दो धैर्य मेरी ओर से, सब उत्तरा के चित्त को,
सुत-रूप में वह पायगी खोये हुए निज वित्त को॥"

---

२० क्षणभंगुर—क्षण में नाश होनेवाला।

२१ घातक—मारनेवाले। पार्थ—अर्जुन। रुद्र—शिव का भयङ्कर स्वरूप। रोष—क्रोध।

२२ निहत—कतल। वित्त—धन।

(२३)

श्रीकृष्ण ने इस भाँति सबको लीन करके ज्ञान में,
प्रस्तुत कराई शीघ्र ही चन्दन-चिता सुस्थान में।
अभिमन्यु का मृत देह उस पर शान्ति से रक्खा गया,
ज्यों क्रूरता की गोद में कारुण्य का भाजन नया॥

(२४)

होकर ज्वलित तत्क्षण चिता की ज्वाल ने नभ को छुआ,
पर उस विपत्ति-वियोग-विधुरा उत्तरा का क्या हुआ?
उस दग्धहृदया को मरण भी होगया दुर्लभ बड़ा,
वह गर्भिणी थी, इसलिए निज तनु उसे रखना पड़ा॥

(२५)

अभिमन्यु का तनु जल गया तत्काल ज्वाला-जाल से,
पर कीर्ति नष्ट न हो सकी उस वीरवर की काल से।
अच्छा-बुरा सब नाम ही रहता सदा है लोक में,
वह धन्य है जिसके लिए हों लीन सज्जन शोक में॥

—जयद्रथ-वध

---

२३ प्रस्तुत—तैयार। क्रूरता—निर्दयता। कारुण्य—दया
भाजन—बरतन।

२४ विधुर—विकल। तनु—शरीर। लीन—लुप्त।

फुटकर कविताएं

प्रेम-बधाई

सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई ।
या संसार रतन इक प्रेमहि और बादि चतुराई ॥
प्रेम बिना फीकी सब बातैं कहहु न लाख बनाई ।
जोग ध्यान जप तप व्रत पूजा प्रेम बिना बिनसाई ॥
हाव भाव रस रङ्ग रीति बहु काव्य केलि कुसलाई ।
बिना लोनबिञ्जन सो सबही प्रेम-रहित दरसाई ॥
प्रेमहि सो हरिहू प्रगटत हैं जदपि ब्रह्म जगराई ।
तासों यह जग प्रेम सार है और न आन उपाई ॥

—हरिश्चन्द्र

आँख का आँसू

आँख का आँसू ढलकता देखकर ।
जी तड़प करके हमारा रह गया ॥

केलि—क्रीड़ा । कुसलाई—नैपुण्य । लोन—नमक । बिञ्जन—तरकारी, शाक । आन—अन्य । उपाई—उपाय ।

१ रतन—रत्न । २ अनूठी—निराली । खंजन—पक्षी विशेष ।

क्या गया मोती किसी का है बिखर;
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥ १ ॥
ओस की बूँदें कमल में हैं कढ़ी;
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ ॥
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खञ्जनों की लड़कियाँ ॥ २ ॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया ॥
हाय था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया ॥ ३ ॥
पूछते हो तो कहो मैं क्या कहूँ !
यों किसी का है निरालापन गया ॥
दर्द से मेरे कलेजे का लहू,
देखता हूँ आज पानी बन गया ॥ ४ ॥
प्यास थी इस आँख को जिसकी बनी,
वह नहीं इसको सका कोई पिला ॥
प्यास जिससे हो गई है सौगुनी,
वाह क्या अच्छा इसे पानी मिला ॥ ५ ॥
ठीक कर लो जाँच लो धोखा न हो ।
वह समझते हैं मकर करना इसे ॥
आँख के आँसू निकल करके कहो,
चाहते हो प्यास जतलाना किसे ॥ ६ ॥

आँख के आँसू समझ लो बात यह।
आन पर अपनी रहो तुम मत अड़े॥
क्यों कोई देगा तुम्हें दिल में जगह।
जब कि दिल में से निकल तुम यों पड़े॥ ७॥

हो गया कैसा निराला यह सितम।
भेद सारा खोल क्यों तुमने दिया?
यों किसी का हैं नहीं खोते भरम।
आँसुओ! तुमने कहो यह क्या किया॥ ८॥

झाँकता फिरता है कोई क्यों कुआँ?
हैं फँसे इस रोग में छोटे-बड़े॥
है इसी दिल से तो वह पैदा हुआ।
क्यों न आँसू का असर दिल पर पड़े॥ ९॥

रङ्ग क्यों इतना निराला कर लिया?
है नहीं अच्छा तुम्हारा ढङ्ग यह।
आँसुओ! जब छोड़ तुमने दिल दिया;
किसलिए करते हो फिर दिल में जगह॥ १०॥

बात अपनी को सुनाता है सभी;
पर छिपाए भेद छिपता है कहीं॥
जब किसी का दिल पसीजेगा कभी;
आँख से आँसू कढ़ेगा क्यों नहीं॥ ११॥

---

६ मकर—कपट।

आँख के परदों से छन कर जो बहे,

मैल थोड़ा भी रहा जिसमें नहीं ॥

बूँद जिसकी आँख टपकाती रहे।

दिलजलों को चाहिए पानी वही ॥ १२ ॥

हम कहेंगे क्या, कहेगा यह सभी—

आँख के आँसू न ये होते अगर;

बावले हम हो गये होते कभी ;

सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर ॥ १३ ॥

है सगों पर रञ्ज का इतना असर,

जब कड़े सदमे कलेजे ने सहे ॥

सब तरह का भेद अपना भूलकर;

आँख के आँसू लहू बनकर बहे ॥ १४ ॥

क्या सुनावेंगे भला अब भी खरी।

रो पड़े हम पत तुम्हारी रह गई ॥

ऐंठ थी जी में बहुत दिन से भरी;

आज वह इन आँसुओं में बह गई ॥ १५ ॥

बात चलते चल पड़ा आँसू थमा।

खुल पड़े बेंड़ो सुनाई रो दिया ॥

आज तक जो मैल था जी में जमा।

इन हमारे आँसुओं ने धो दिया ॥ १६ ॥

क्या हुआ अन्धेर ऐसा है कहीं।

सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया ॥

ढूँढ़ते हैं पर हमें मिलता नहीं।
आँसुओं में दिल हमारा बह गया ॥ १७ ॥
देखकर मुझको सम्हल लो, मत डरो।
फिर सकूँगा हाय ! यह तुझको न मिल ॥
छीन लो लोगो ! मदद मेरी करो।
आँख के आँसू लिये जाते हैं दिल ॥ १८ ॥
इस गुलाबी गाल पर यों मत बहो।
नाक से भिड़कर भला क्या पा लिया ?
कुछ घड़ी के आँसुओ ! मेहमान हो।
नाक में क्यों नाक का दम कर दिया ॥ १९ ॥
नागहानी से बचो, धीरे बहो।
है उमङ्गों से भरा उनका जिगर ॥
यों उमड़कर आँसुओ ! सच्चो कहो।
किस ख़ुशी से आज लाये हो ख़बर ॥ २० ॥
क्यों न वे अब और भी रो रो मरें !
सब तरफ़ उनको अँधेरा रह गया ॥
क्या बिचारी डूबती आँखें करें ?
दिल तो था ही आँसुओं में बह गया ॥ २१ ॥
दिल किया तुमने नहीं मेरी कही।
देखते हैं खो रतन सारे गये ॥

---

२० नागहानी—चूक।

जोत आँखों में न कहने को रही ।
आँसुओं में डूब ये तारे गये ॥ २२ ॥
पास हो क्यों कान के जाते चले ?
किसलिए प्यारे कपोलों पर अड़ो ॥
क्यों तुम्हारे सामने रहकर जले ।
आँसुओ ! आकर कलेजे पर पड़ो ॥ २३ ॥
आँसुओं की बूँद क्यों इतनी बढ़ी ?
ठीक है तकदीर तेरी फिर गई ॥
थी हमारे जी से पहले ही कढ़ी ।
अब हमारी आँख से भी गिर गई ॥ २४ ॥
आँख का आँसू बनी मुँह पर गिरी;
धूल पर आकर वहीं वह खो गई ॥
चाह थी जितनी कलेजे में भरी,
देखता हूँ आज मिट्टी हो गई ॥ २५ ॥
भर गई काजल से कीचड़ में सनी ।
आँख के कोनों छिपी ठण्ढी हुई ॥
आँसुओं की बूँद की क्या गत बनी ।
वह बरौनी से भी देखो छिद गई ॥ २६ ॥
दिल से निकले अब कपोलों पर चढ़ो ।
बात बिगड़ी क्या भला बन जायगी ॥

२२ जोत—ज्योति ।
२६ काजल—सुरमा । सनी—गूँधी हुई । गत—हालत ।
छिद—विध ।

ऐ हमारे आँसुओ ! आगे बढ़ो।

आपकी गरमी न यह रह जायगी ॥ २७ ॥

जी बचा तो हो जलाते आँख तुम;

आँसुओ ! तुमने बहुत हमको ठगा ॥

जो बुझाते हो कहीं की आग तुम;

तो कहीं तुम आग देते हो लगा ॥ २८ ॥

काम क्या निकला हुए बदनाम भर !

जो नहीं होना था वह भी हो लिया ॥

हाथ से अपना कलेजा थामकर।

आँसुओं से मुँह भले ही धो लिया ॥ २९ ॥

गाल के उसके दिखा करके मसे।

यह कहा हमने—हमें ये ठग गये ।

आज वे इस बात पर इतने हँसे।

आँख से आँसू टपकने लग गये ॥ ३० ॥

लाल आँखें कीं, बहुत बिगड़े बने।

फिर उठाई दौड़कर अपनी छड़ी ॥

वैसे ही अब भी रहे हम तो तने।

आँख से यह बूँद कैसी ढल पड़ी॥ ३१ ॥

बूँद गिरते देखकर यों मत कहो,—

आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई ॥

---

३० मसे—मूँछ ।

जो समझते हो नहीं तो चुप रहो।
कंकरी इस आँख में है पड़ गई ॥ ३२ ॥

है यहाँ कोई नहीं धूआँ किये।
लग गईं मिरचें न सरदी है हुई ॥
इस तरह आँसू भर आये किसलिए।
आँख में ठण्डी हवा क्या लग गई ॥ ३३ ॥

देख करके और का होते भला।
आँख जो बिन आग ही यों जल मरे ॥
दूर से आँसू उमड़ कर तो चला;
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥ ३४ ॥

पाप करते हैं, न डरते हैं कभी।
चोट इस दिल ने अभी खाई नहीं ॥
सोचकर अपनी बुरी करनी सभी।
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥ ३५ ॥

है हमारे औगुनों की भी न हद।
हाय! गरदन भी उधर फिरती नहीं ॥
देख करके दूसरों का दुख-दरद।
आँख से दो बूँद भी गिरती नहीं ॥ ३६ ॥

किस तरह का यह कलेजा है बना ?
जो किसी के रञ्ज से हिलता नहीं ॥

आँख से आँसू छना तो क्या छना ।
दर्द का जिसमें पता मिलता नहीं ॥ ३७ ॥
वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी,
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं ॥
फूट जाये आँख वह जिसमें कभी,
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं ॥ ३८ ॥
पाप में होता है सारा दिन बसर ।
सोचकर यह जी उमड़ आता नहीं ॥
आज भी रोते नहीं हम फूट कर ।
आँसुओं का तार लग जाता नहीं ॥ ३९ ॥
बू बनावट की तनिक जिसमें न हो,
चाह की छींटें नहीं जिस पर पड़ीं ॥
प्रेम के उन आँसुओं से हे प्रभो !
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं ॥ ४० ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

---

३७ छना—निचुरा, गला ।

काम करो

अँग्रेज़ी जरमन फ्रेंच ग्रीक लैटिन ज्यों;

रशियन जपानी चीनी, प्राकृत प्रमानी हो।

तामिल तैलङ्गी तूलू द्राविड़ी मराठी ब्राह्मी;

उड़िया बङ्गाली पाली गुजराती छानी हो॥

जितनी अनार्य आर्य भाषा जग जाहिर हैं;

फ़ारसी ऐराबी तुर्की सब मन आनी हो।

जनम वृथा है तो भी मेरे जान मानव को;

हिन्द में जनम पा के हिन्दी जो न जानी हो॥१॥

जाना नहीं अच्छा कभी जैनियों के मन्दिर में;

किसी भाँति अच्छी नहीं कृष्ण की उपासना।

शम्भु का स्मरण किये होना जाना क्या है कहो।

राम नाम लेने से क्या सिद्ध होगी कामना?

बुरे हैं मुसलमान हिन्दू बड़े काफ़िर हैं;

ऐसी हो परस्पर में बुरी जहाँ भावना।

प्रेम हो न आपस का एका फिर क्योंकर हो।

क्यों न भोगे हिन्द माता नई नई यातना॥२॥

उदय न होगा भानु पूर्व छोड़ पश्चिम में;

आकर्षणशक्ति कहीं धरा की न जावेगी।

---

२ यातना—दुःख। ३ धरा—पृथ्वी।

हिलेगा न हिमालय चाहे जैसी हवा चले ;
मणिमय दिये की न ज्योति बुझ जावेगी ।।
बहेगी न उलटी गङ्गा झुकेंगे न वीर-शिर ;
प्रकृति स्वधर्म से न कभी चूक जावेगी ।
टरेंगे न ब्रह्म-वाक्य मांगेंगे स्वराज्य हम ;
सम्पदा यहां की यहीं पाछी लौट आवेगी ।।३।।

ढूंढ़े भी मिलेंगे नहीं संकट के चिह्न कहीं ;
जायँगे कहां के कहां सारे विघ्न बाधा पीर ।
बनेगा जगत भर तुम्हारी दया का पात्र;
देख के तुम्हारा दुख आँखों में भरेगा नीर ।।
रखकर माथे हाथ भाग्य के भरोसे पर ;
बैठे मत रहो सुनो भारतनिवासी वीर ।
काम करो, काम करो, काम करो, काम करो;
काम करो, काम करो, काम करो; धरो धीर ।।४।।

जाते हैं समुद्र बँध रहते न अद्रि आड़ ;
अग्नि-जल-वायु आदि हुकम उठाते हैं ।
हुकम उठाते हैं उमङ्ग भरे धीर वीर;
होते धन धान्य शाह मस्तक नवाते हैं ।।
मस्तक नवाते हैं जगत के सकल लोग;
गिरिधर-मूर्त्ति निज हिये में बिठाते हैं ।

५ अद्रि—पर्वत । गिरिधर—कृष्ण ।

हिये में बिठाते हैं ज्यों महिमा पराक्रम की;
पौरुष दिखाये क्या क्या काम हो न जाते हैं ॥५॥
मेरा देश देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान;
मेरा सम्मान मेरे देश की बड़ाई में ।
जियूँगा स्वदेश-हित, मरूँगा स्वदेश काज;
देश के लिए न कभी करूँगा बुराई मैं ॥
भीषण भयङ्कर प्रसङ्ग में भी भूल के भी;
भूलूँगा न देश-हित राम की दुहाई मैं ।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटा दूँगा ;
ईश को भी झुका लूँगा देश की भलाई में ॥६॥
चर्चा जहाँ देश की हो मेरी जीभ वहीं खुले;
और नहीं खुले कहीं खुदा की खुदाई में ।
मेरे कान गान सुने साँचे देशभक्तन के;
और गान आवे कभी मेरे न सुनाई में ॥
मेरे अङ्ग रङ्ग चढ़े एक देश-प्रेम को ही,
और रङ्ग भङ्ग हो के बूड़ जा तराई में ।
मेरो धन, मेरो तन, मेरो मन, मेरो जीव,
मेरो सब लगे प्रभो देश की भलाई में ॥ ७ ॥
वाके पास एक बुध तेरे पास नाना बुध;
वाको तेज देता दिन में तू सदा तेजधारी है ।

---

८ बुध—नक्षत्रविशेष, विद्वान् । भूमिदेव—ब्राह्मण । मङ्गल—नक्षत्रविशेष, कल्याण ।

वाके आसपास फिरे चक्कर लगाती भूमि ;
भूमिदेव देव-तुल्य तेरे दरबारी हैं ॥
वहाँ एक मंगल है जलते अँगार ऐसो;
तेरे यहाँ मंगल-समूह सुखकारी हैं।
भानुवंश भूषण भवानीसिंह भने रत्न,
तू है जगभान बड़ो मति यह "हमारी" है ॥८॥
प्याली पै प्याली पी पी ख्याली किया करौ पीपं;
नसा करौ आफू भंग चरस अकूती को।
घर को विगारो रार धारो घरवारिन सों;
करौ वारवनिता को मान पठा दूती को ॥
लोहा करिवे की जगह हो हा करो सीखो मत;
अस्त्र-शस्त्र-विद्या रण-चातुरी निपूतो को।
देश के कपूतो राजपूतो डूब मर जाओ;
नाम न लजाओ वीर प्यारी रजपूती को ॥९॥

—गिरिधर शर्मा

---

१ रार—झगड़ा। वारवनिता—गणिका।

व्यास-स्तवन

शुभ-सौम्य-मूर्ति तेजोनिधान,
हो अन्य भानु ज्यों भासमान।
ध्यानस्थ स्वस्थ सद्धर्म्म-धाम,
भगवान व्यास! तुमको प्रणाम ॥ १ ॥

तव गुण अनन्त भू-कण समान,
है कौन उन्हें सकता बखान?
उपकार याद कर तव अपार,
होते बुध विस्मित बार बार ॥ २ ॥

कर ज्ञान-भानु तुमने प्रकाश,
अज्ञान-निशा कर दी विनाश।
कर तव शिक्षामृत-पान शुद्ध,
संसार हुआ शिक्षित प्रबुद्ध ॥ ३ ॥

क्या राजनीति, सामान्य-नीति,
क्या धर्म्म-कर्म्म, क्या प्रीति-रीति।

---

१ सौम्य—मनोहर। तेजोनिधान—तेज के स्थान। भानु—सूर्य्य। भासमान—चमकता हुआ। धाम—गृह।

२ भू—पृथिवी। विस्मित—हैरान।

४ सामान्य—सर्वसाधारण के लिए।

क्या भक्ति-भाव, व्यवहार, वेश,
उपदेश दिये तुमने अशेष ॥ ४ ॥
होता है जग में जो सदैव,
जो हुआ और होगा तथैव ।
कथनानुसार तव सो समग्र,
होता है, होगा, हुआ अग्र ॥ ५ ॥
जो दिखलाया तुमने समक्ष,
हैं वही देख सकते सुदक्ष ।
तुमने न किया हो जिसे व्यक्त,
सब उसे बताने में अशक्त ॥ ६ ॥
है विषय अहो ! ऐसा न एक,
जिसका न किया तुमने विवेक ।
रचनायें कवियों की प्रशस्त,
उच्छिष्ट तुम्हारी हैं समस्त ॥ ७ ॥
कर वेदों का तुमने विभाग,
रक्षा की उनकी सानुराग ।
वेदान्त-सूत्र रचकर अमोल,
हैं दिये हृदय के नेत्र खोल ॥ ८ ॥

---

५ समग्र—सारा ।

६ समक्ष—आंखों के सामने । सुदक्ष—पण्डित । व्यक्त—स्पष्ट, प्रकाशित । अशक्त—असमर्थ ।

७ प्रशस्त—अति उत्तम । उच्छिष्ट—जूठी । समस्त—सारी ।

८ सानुराग—प्रेम के साथ ।

सुनकर जिनका शुभ सदुपदेश,
रह जाता कुछ सुनना न शेष।
शुचि, शुद्ध, सनातन-धर्म्म-प्राण,
सो रचे तुम्हीं ने हैं पुराण ॥ ९ ॥

बुधजन-समाज जिसका तमाम,
है रक्खे पञ्चम वेद नाम।
इतिहास महाभारत पुनीत,
सो रचा तुम्हीं ने है प्रतीत ॥ १० ॥

हो जाता धर्म्म सहाय-हीन,
सब पूर्व-कीर्ति होती विलीन।
स्वच्छन्द विचरते पाप, ताप,
लेते न जन्म यदि ईश आप ॥११॥

करता शुभ कर्म्म प्रचार कौन ?
सिखलाता वेदाचार कौन ?
हरता तुम बिन त्रय ताप कौन ?
दिखलाता पूर्व-प्रताप कौन ॥ १२ ॥

करने को तव सन्मार्ग लुप्त,
हैं हुए यत्न बहु प्रकट, गुप्त।
वे हुए किन्तु निष्फल, निषिद्ध,
है क्योंकर सत्य असत्य सिद्ध ? ॥ १३ ॥

---

१० पुनीत—पवित्र। प्रतीत—प्रसिद्ध।
११ विलीन—नष्ट। स्वच्छन्द—स्वतन्त्र।

हिन्दुत्व हिन्दुओं का प्रधान,
है अब तक भी तो विद्यमान।
हे जगद्वन्द्य, करुणा-निधान,
हो तुम्हीं एक इसके निदान ॥ १४ ॥

जो आर्य-जाति का कीर्त्ति-गान,
पाता है जग में मुख्य मान।
है उसका जो गौरव महान,
सो किया आप ही ने प्रदान ॥ १५ ॥

वर्णन करते भी बार बार,
रहते हैं तव गुण-गण अपार।
घन चाहे जितना भरें नीर,
घटता न किन्तु सागर गँभीर ॥१६॥

है हमें तुम्हारा अमित गर्व,
है तव-कृतज्ञ संसार सर्व।
है भारत धन्य अवश्यमेव,
तुम हुए जहाँ अवतीर्ण देव ! ॥१७ ॥

---

१४ जगद्वन्द्य—जगत् से प्रणाम किये जाने योग्य। निदान—मूल कारण।

१६ नीर—जल। गँभीर—गम्भीर।

१७ अमित—न मापे जाने योग्य। अवतीर्ण—उतरे, पैदा हुए।

हल्दीघाट की लड़ाई

कर सिंह-विक्रम अमर नाम प्रताप जग में कर गया,
वह वीर-रस-मय रण-कथा उत्साह उपजाती नया।
रण की कथा से पूर्व हल्दीघाट-यश सुन लीजिए,
पाठक-प्रवर पुनि पुनि प्रणाम सुपुण्य-थल को कीजिए ॥१॥
निज मातृ-भू-स्वाधीनता-हित आर्यरक्त बहा यहाँ,
इतिहास में संग्राम ऐसा है हुआ कहिए कहाँ ?
दुर्गम अर्बुद शैलमाला पश्चिमीय विभाग में,
चौकोर दशयोजन स्वर्गाकार पर्वत-भाग में ॥ २ ॥
है अति विशाल वनाद्रिवेष्टित थल जहाँ वक्रापगा,
बहतीं विशुद्ध, सुरम्य धरणी देख मन जाता ठगा।
वे सघन पादपपुंज, शृंग-समूह शोभित हैं बड़े,
थे राजपूत सशस्त्र उन पर हो गये आकर खड़े ॥ ३ ॥

---

१ विक्रम—वीरता। थल—स्थल, स्थान।

२ भू—भूमि। दुर्गम—कठिनता से पहुँचने योग्य। अर्बुद शैल-माला—अर्वली पहाड़ का सिलसिला।

३ वनाद्रिवेष्टित—वन और पहाड़ों से घिरा हुआ। वक्रापगा—टेढ़ी नदियाँ। सुरम्य—रमणीय। पादपपुंज—वृक्षों के झुण्ड। शृङ्ग—चोटी।

था दुर्ग दुर्दमनीय अनुपम उस समय देखा गया,
शिव सहचरों सह दीप्त हो कैलाश ही मानो नया।
वीरत्व राणारूप धर आया स्वयं रणरङ्ग को,
वाचक! विचारो ध्यान से इस रण-प्रसिद्ध प्रसङ्ग को ॥४॥

भीलादि ले अरि-आगमन की वे प्रतीक्षा कर रहे,
बाइस सहस निज सैन्य में उत्साह थे यों भर रहे—
रिपु-सैन्य संख्या है बड़ी हम अल्प ही यद्यपि सही,
कुछ क्यों न हो, पर शत्रु से रक्षित रहे माता मही ॥५॥

हे राजपूतो! इसलिए तुम एक ही शत-सदृश हो,
वे दास हैं तुर्केश के तुम मातृ-सेवा-वश्य हो।
वे शत्रु हैं, तुम पुत्र हो, तुम स्वत्व रखते हो बड़ा,
शिशु-सिंह-सम्मुख भी कभी गजराज है देखा खड़ा ॥६॥

तृण-तुल्य जीवन आज निज स्वाधीनता पर दान दो।
सर्वस्व देकर शूरवीरो! मातृ भू को मान दो।
बस आज भारत-वीर-विक्रम का नमूना दो दिखा,
इन क्षुद्र देशद्रोहियों को कर्म का फल दो चखा ॥७॥

दशषष्ठ सौ बत्तीस संवत शुक्ल श्रावण सप्तमी,
यों सैन्य दोनों सामने रणभूमि में आकर जमी।

---

४ सहचर—साथी। दीप्त—चमकता हुआ। रणरंग—युद्ध का मैदान।

५ सैन्य—सेना। मही—भूमि।

६ तुर्केश—तुर्कों का बादशाह, अकबर। स्वत्व—अधिकार।

होने लगा रण घोर आगे केशरीन्द्र प्रताप का,
नेता बना निज सैन्य रण-मद-मत्त का वह आप था ॥८॥

अपने अलौकिक शौर्य विक्रम और रणनैपुण्य से,
वह शत्रु पर गुरु वज्रसम था जा पड़ा बढ़ सैन्य से।
यह देख उन्मादित हुए सामन्तगण भी क्रुद्ध हो,
झपटे बुभुक्षित सिंह सम लड़ने लगे अविरुद्ध हो ॥९॥

तब युद्ध-कौशल चण्ड-विक्रम से दलित त्रासित हुई,
रिपु-सैन्य व्यूह विभङ्ग कर व्याकुल भगी तज रण-मही।
राणा अदम्योत्साह साहस से हुए कृतकार्य ही,
अरि-व्यूह टूटा राजपूती शक्त थे अनिवार्य ही ॥१०॥

तब राजपूत-कुटुम्ब-दूषण 'मान' अनुसन्धान को,
उत्ताप पा राणा प्रताप स्वहस्त पर रख जान को।
हो क्रुद्ध अश्रुतपूर्व ही अविराम रण करने लगे,
विकराल वर करवाल से कट शीश भू-भरने लगे ॥११॥

---

८ केशरीन्द्र—सिंहराज। नेता—अगुआ। मत्त—मस्त।

९ नैपुण्य—चतुराई। गुरु—भारी। उन्मादित—जोश में आये। सामंत—सरदार। बुभुक्षित—भूखे। अविरुद्ध—लगातार।

१० चंड—घोर। त्रासित—डराई हुई। व्यूह—क़िला, दस्ताबंदी। विभंग—तोड़। अदम्य—न रुकनेवाला। कृतकार्य—सफल।

११ मान—मानसिंह। अनुसंधान—तलाश। उत्ताप—जोश। अश्रुतपूर्व—जो पहले कभी न सुना हो। अविराम—लगातार। विकराल—भयानक। करवाल—तलवार।

कर-शूल से भी अमित वीरों को धरा-शायी किया,
जो पास आया रुंड-मुंड विभिन्न दिखलाई दिया।
उस काल एक अनेकसम वे चतुर्दिक लड़ने लगे,
निज शत्रु को जिस ओर देखे दृष्टि वे पड़ने लगे ॥१२॥
जब दृष्टि आया सामने युवराज-कुंजर झूमता,
चेतक तुरंग तुरंत पहुँचा चक्रसम तब घूमता।
गज-शुंड पद से दाब मस्तक पर हुआ जाकर खड़ा,
भाला लिये राणा प्रताप सलीम-शिर पर जा अड़ा ॥१३॥
पाठक ! बनाकर चित्र इसका चित्त में मढ़ लीजिए,
वर वीरता निर्भीकता-गज पर तथा चढ़ लीजिए।
युवराज के सौभाग्य से भाला महावत पर गिरा,
अंकुश बिना मातंग वह तब समर-प्रांगण से फिरा ॥१४॥
पीछा प्रताप किये गये संग्राम रस बढ़ने लगा,
दोनों दलों का कोप-पारद उच्चतर चढ़ने लगा।
निज शत्रु-दर्प विचूर्ण करते राजपूत प्रमत्त थे,
रण-यज्ञ में जीवनाहुति दे धर्म में अनुरक्त थे ॥१५॥

---

१२ कर-शूल—भाला। अमित—अगणित। धराशायी—पृथ्वी पर सोया हुआ। विभिन्न—अलग। चतुर्दिक—चारों दिशाओं में।

१३ कुंजर—हाथी। चेतक—प्रताप का घोड़ा। तुरंग—घोड़ा। शुंड—सूँड़।

१४ निर्भीकता—निडरता। मातंग—हाथी। समर-प्रांगण—युद्ध का मैदान।

१५ पारद—पारा। विचूर्ण—चूर चूर।

राणा अकेले बढ़ गये था राजछत्र लगा हुआ,
तब-यवन-यूथ सरोष धाये देख शत्रु फँसा हुआ।
हैं शत्रु शिर अगणित चतुर्दिक सिंह एक प्रताप है,
भाला घुमाता वेग से ज्यों तड़ित चेतक टाप है ॥१६॥
निजहस्तलाघव से अकेले सैकड़ों को मारते,
जाते जिधर हैं शत्रुदल तृणतुल्य हैं संहारते।
अभिमन्यु ने कुरुसैन्य को मारा यथा रण-व्यूह में,
त्यों ही मचा दी खलबली उस घोर शत्रु-समूह में ॥१७॥
देखा नमूना राम-रावण-युद्ध का रण में गया,
था सूर्यवंशी सूर्य ही समुदित हुआ मानो नया।
अविराम अस्त्राघात से थे सात घाव हुए यदा,
संकट समय लख त्राण की चेष्टा लगे करने तदा ॥१८॥
'जय जय प्रताप' सुनाद श्रव्य हुआ उन्हें उस काल में,
मानो घृताहुति आ पड़ी गुरु-कोप-ज्वाला-जाल में।
वर वीर झालापति झपटते आ मिले गुरु घोष से,
तब सिंहनाद प्रताप का जयनाद में मिल रोष से ॥१९॥

१६ यूथ—झुंड। यवन—मुसलमान।

१७ हस्तलाघव—हाथ की चतुराई।

१८ समुदित—उदय। अस्त्राघात—हथियारों की चोट। त्राण—बचाव।

१९ सुनाद—भारी आवाज़। श्रव्य—सुनी गई। झालापति—मन्नाजी नाम का प्रताप का सरदार।

रिपुसैन्य का घननाद के सम हृदय दहलाने लगा,
विद्युत्-प्रहार प्रचंड असि का प्रौढ़ता पाने लगा।
पर एक, दो, दस, बीस हों तो युद्ध करना ठीक है,
लाखों लड़ें मिल एक तो बोलो कहाँ की लीक है ॥२०॥
देखा समर-सागर-तरंगें बढ़ रही हैं वेग से,
रणधीर मन्नाजी घुसे दल चीरते निज तेग से।
ले राजछत्र प्रताप का निज शीश पर धारण किया,
पड़ प्रज्वलित समराग्नि में निज-नाथ-दुख वारण किया ॥२१॥
फिर शत्रुसेना में प्रवेश सगर्व कर उत्साह से—
वे हर्ष में अति मग्न हो रिपु-रक्त-सरित-प्रवाह से।
आनन्द देकर जीवदान विमुक्त जीवन हो गये,
प्रभुभक्त वीर सुधन्य स्वामी-हित सदा को सो गये ॥२२॥
यद्यपि महा आश्चर्यमय वीरत्व का यह काम था,
पर विषम-पक्ष-विचार से क्या कहो यह संग्राम था ?
जब मुगल-सेनाधिक्य पर भी अधिक आग्नेयास्त्र थे,
तब काम दे सकते कहाँ तक भला केवल शस्त्र थे ? ॥२३॥
चौदह सहस्र सुक्षत्रियों ने प्राण का बलिदान दे,
रणरंग पूर्ण किया वहाँ निज देश को सम्मान दे।

२० विद्युत्-प्रहार—बिजली की चोट। असि—तलवार।
२१ प्रज्वलित—तेज़ जलती हुई। वारण—रोकना।
२२ सगर्व—अभिमान के साथ। सरिता—नदी। प्रवाह—बहाव।
२३ आधिक्य—अधिकता। आग्नेयास्त्र—बंदूक आदि।

राणा अकेले चले चेतक पर चढ़े रण-भूमि से,
उस काल भी थे घिर रहे वे हा समर-सिंधूर्मि से ॥२४॥

दो यवन उनको देख पीछे लग लिये सत्वर वहीं,
दुर्दैव दुष्ट ! तुझे दया आई अहो अब भी नहीं।
जो देशरक्षा पर मरे उसके लिए यह आपदा !
क्या धर्मसेवक ही हरे ! हैं कष्ट पाते सर्वदा ॥२५॥

हय-वीर चेतक एक सरिता पार कर आगे गया,
थे यवन वे असमर्थ, राणा को मिला जीवन नया।
वे रुधिर से भीगे हुए आहत ज़रा आगे बढ़े,
भावी दशा के ध्यान में थे जा रहे चेतक चढ़े ॥२६॥

तब पीठ-पीछे घोर रव करता हुआ बंदूक-वार,
निज मातृभाषा में सुना—'हो नील घोड़ारा असवार !'
आता हुआ लख शक्तसिंह सक्रोध वे कहने लगे—
धाता ! यही है समय प्रण पालन करें भाई सगे ॥२७॥

हय-युक्त घायल, थकित, रुधिर-प्रलिप्त दारुण क्लेश से,
आसित हुए भी गर्जते बोले विरोषावेश से।

---

२४ समरसिंधूर्मि —रणरूपी समुद्र की लहरें।

२५ सत्वर—शीघ्र।

२६ हय—घोड़ा। आहत—ज़ख्मी।

२८ प्रलिप्त—लिथड़े हुए। विरोषावेश—क्रोधित होकर। पुण्य-श्लोक—पवित्र-कीर्ति।

रे देशकंटक ! आ तुझे भी भेज दूँ यमलोक में,
तूने लगाया दाग़ है मेवाड़-पुण्यश्लोक में ॥२८॥
पर देख हीन मलीन मुख, सुन नम्र वाणी बंधु की,
संदेहगत राणा हुए लहरें उठीं सुख-सिंधु की।
यह बंधुद्रोही शक्तसिंह प्रताप-विक्रम मुग्ध हो,
है कह रहा निज पूर्व कर्मों पर हृदय में क्षुब्ध हो—॥२९॥
हे आर्य ! मम दुर्बुद्धिकृत दूषण क्षमा अब कीजिए,
मुझ अधम को शिशु जानकर फिर निजशरण में लीजिए।
निज भूल जानी तथा पाया आज धर्मालोक को,
है किया प्रायश्चित पठाये यवन दो यमलोक को ॥३०॥
सुन शब्द ये अनुराग-अंबुधि उमड़कर मानो बहा,
उस प्रेम का आनंद किस कवि से कहा जावे कहा।
विषवारि, पर, सहसा सुधा-सुख में कहाँ से आ मिला,
आपत्ति-सहचर प्राणरक्षक अश्व चेतक भी चला ॥३१॥
चेतक-विरह-व्याकुल रुदन करते महा दुख पा रहे,
थे शोक-पारावार में गोते प्रताप लगा रहे।
तब 'शक्त' ने निज अश्व दे बहु भाँति समझाया उन्हें,
प्रणवश स्वयं लौटा सलीम-समीप को तजकर उन्हें ॥३२॥

---

२९ मुग्ध—मोहित।
३० धर्मालोक—धर्म का प्रकाश। पठाये—भेजे।
३१ अनुराग-अंबुधि—प्रेम का सागर। वारि—जल।
३२ पारावार—समुद्र। प्रणवश—शक्तसिंह सलीम से प्रण कर आया था कि भाई को मिलकर लौट आऊँगा।

यह वीरता का दिवस अद्भुत आर्य-गौरव पूर्ण था,
रण-रक्त-पारावार में डूबा यवन-दल-गर्व था।
आदर्श आत्मोत्सर्ग का यह राजपूतों ने दिखा,
गिरिगात्र धो निज रुधिर से रक्षित रखी हिन्दूशिखा ॥३३॥

प्रिय पाँच सौ परिजन तथा बहु भूप भावी के नये,
दे राज-भक्ति-प्रदीप्त-परिचय युद्ध में मारे गये।
मेवाड़-माता-हित उन्होंने प्राण-दाव लगा दिया,
हँसते हुए कर्तव्य-हित यों मृत्यु का स्वागत किया ॥३४॥

यह लोक-विस्मय-कर चमत्कृत रण-कथा जग गेय है,
उत्साह, साहस, धैर्य, विक्रम वीरगण का धेय है।
है पुण्य-पुंज प्रताप की कल-कीर्तिमय-कानन कथा,
सिखला रही सबको कि—'सह लो धर्म पर ऐसे व्यथा' ॥३५॥

यद्यपि जयश्री होगई मुगलेश की अनुगामिनी,
है यह पराजय भी परन्तु प्रवीण जन ने जय गिनी।
थे क्योंकि सेनाधिक्य, आग्नेयास्त्र, द्रव्य विशेषता,
अनुकूल यवनों के, बढ़ी थी क्षत्रियों की विष-लता ॥३६॥

---

३३ आत्मोत्सर्ग—आत्मत्याग।

३५ लोक-विस्मय-कर—जगत् को हैरान करनेवाली। गेय—गाने योग्य। धेय—ध्यान करने योग्य। व्यथा—कष्ट।

३६ जयश्री—विजय-लक्ष्मी। मुग़लेश—अकबर। अनुगामिनी—पीछे जानेवाली।

फिर एक मुट्ठी वीर का गुरु-वाहिनी से सामना,
अधिकार भी होने न देना, क्या अजय जावे गिना।
जो कुछ किया था क्षत्रियों ने अतुलनीय प्रताप से,
था अद्वितीय मिले न जय दुर्दैव-दत्त-विताप से ॥३७॥

चेतक-स्मारक-वेदिका निर्मित वहाँ पर की गई,
उस सत्य-सहचर अश्व को पूरी प्रतिष्ठा दी गई।
कुछ काल पीछे शक्तसिंह स्वबंधु से आकर मिला,
था अर्द्धमुकुलित हृत्कमल जो पूर्णतः फिर से खिला ॥३८॥

—गोकुलचन्द्र शर्मा

---

३७ गुरु-वाहिनी—भारी सेना। अजय—हार।
३८ स्मारक—यादगार। वेदिका—वेदी। निर्मित—बनाई। अर्द्धमुकुलित—अधखिला।

मृगी-दुःख-मोचन

वन एक बड़ा ही मनोहर था,
रमणीयता का शुचि आकर सा।
सुख-शान्ति के साज से पूरा सजा,
वह सुहाता था कुसुमाकर सा॥
शुभ सात्विक भाव की लीलास्थली,
कुछ प्राप्त उसे था अहो वर सा।
रहती थी वहाँ मृग-दम्पती एक,
विचार के कानन को घर सा॥१॥

वन था वह पास तपोवनों के,
करते तपसीगण वास जहाँ।
जिनके सहवास से होता समत्व के,
साथ ममत्व विकाश जहाँ॥
जहाँ क्रोध विरोध का नाम न था,
रहा बोध का वृत्ति विलास जहाँ।
रहा क्षेम का शान्ति समास जहाँ,
रहा प्रेम का पूर्ण प्रकाश जहाँ॥२॥

---

१ आकर—खान। लीलास्थली—क्रीड़ास्थान। दम्पती—जोड़ा। कानन—वन।

२ समत्व—समता, बराबरी। क्षेम—कल्याण।

अति पूत परस्पर प्रेम रहा,
वन के सब जन्तुओं के मन में।
वहाँ हिंसक हिंस्र का भाव न था,
न अभाव था धर्म का जीवन में॥
विपिनौषधि मिष्ट वनस्पति की,
रुचि थी सबको शुचि भोजन में।
समझो न स्वभाव विरुद्ध इसे,
क्या प्रभाव न है तप-साधन में॥ ३॥

वन में शुक मोर कपोत कहीं,
तरुओं पर प्रेम से डोलते थे।
निज लाड़लियों को रिझाते हुए,
कभी नाचते थे कभी बोलते थे॥
पिक चातक मैना मनोहर बोल से,
शर्करा कर्ण में घोलते थे।
फिरते हुए साथ में बच्चे अहा!
उनके बहु भाँति कलोलते थे॥ ४॥

करि, केहरि मुग्ध हुए मन में,
वन में कहीं प्रेम से घूमते थे।

---

३ हिंसक—हिंसा करनेवाले, बधिक। विपिन—वन।
४ शर्करा—शक्कर। कलोल—खेल-कूद।

फल फूल फले खिले थे सब ओर,
झुके तरु भूमि को चूमते थे ॥
झरने झरते करते रव थे,
कहीं खेत पके हुए झूमते थे ।
वन शोभा मृगी-मृग वे लखते,
चखते तृण यों सुख लूटते थे ॥ ५ ॥

कहीं गोचरभूमि में साँड़ सुडौल,
भरे अभिमान सुहा रहे थे ।
कहीं ढोरों को संग में ले के अहीर,
मनोहर बेणु बजा रहे थे ॥
कहीं बेणु के नाद से मुग्ध हुए,
अहि बाहर खोहों से आ रहे थे ।
ऋषियों के कुमार कहीं फिरते,
हुए "साम" के गायन गा रहे थे ॥ ६ ॥

चढ़ जाते पहाड़ों में जा के कभी,
कभी झाड़ों में नीचे फिरें विचरें ।
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें,
कभी मिष्ट हरी हरी घास चरें ॥

---

४ करि—हाथी । केहरि—सिंह । रव—शोर ।

६ गोचर—गौओं के चरने का स्थान । सांड़—बैल । ढोर—पशु । बेणु—बांसरी । अहि—सांप ।

सरिता जल में प्रतिबिम्ब लखें—
निज, शुद्ध कभी जलपान करें।
कहीं मुग्ध हो निर्झर झर्झर से,
तरु-कुञ्ज में जा तप ताप हरें॥ ७॥

रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के,
पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते थके वहाँ बैठते
थे मृग औ उसकी घरनी॥
पगुराते हुए दृग मूँद हुए,
वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते कभी,
सिर सींग पै धारते थे टहनी॥८॥

इस भाँति वे काल बिताते रहे,
सुख पाते रहे न उन्हें भय था।
कभी जाते चले मुनि-आश्रमों में,
मिलता उन्हें प्रेम से आश्रय था॥
ऋषिकन्यागणों के सुकोमल पाणि के,
स्पर्श का हर्ष सुखालय था।

७ प्रतिबिम्ब—अक्स। कुञ्ज—लता आदि से ढका हुआ स्थान। निर्झर—पर्वत का झरना। झर्झर—बाजाविशेष।

८ पादप—वृक्ष। घरनी—गृहिणी। पगुराते—जुगाली करते, चबाते दृग—आंख।

९ पाणि—हाथ। सुखालय—सुख का घर। सुधा—अमृत।

उनका शुभ सात्विक जीवन मित्र !
पवित्र था और सुधामय था ॥ ९ ॥

कुछ काल अनन्तर ईश कृपा-
वश प्राप्त हुई उन्हें सन्तति दो।
गही दम्पति-प्रेम प्रशस्त की धार ने,
एक को छोड़ नई गति दो ॥
अब दो विधि के अनुराग जगे,
पगे वे सुख में सुकृती अति हो।
इस जीवन का फल मानों मिला,
खिला प्रेम प्रसून सुसङ्गति हो ॥ १० ॥

दिन एक लिये युग शावकों को,
चरने को अकेले मृगी गई थी।
वह चारु वसन्त का काल रहा,
वन शोभा निराली विभामई थी ॥
शुचि शैशव-चञ्चलतावशात:,
मृग-छौनों की लीला नई नई थी।
भरते बहु भाँति की चौकड़ियाँ,
उनकी द्रुत दौड़ हुई कई थी ॥ ११ ॥

---

१० अनन्तर—बाद। सन्तति—सन्तान। प्रशस्त—अत्युत्तम। पगे—डूबे। सुकृती—पुण्यवान्। प्रसून—फूल।

११ चारु—सुन्दर। शैशव—बचपन। छौना—बच्चा। द्रुत—तेज़।

वह तीनों जने निज नित्य के स्थान से,
दूर अनेक चले गये थे।
वन था वह नूतन ही उनको,
सब दृश्य वहाँ के नये नये थे ॥
तटिनी तट की छवि न्यारी ही थी,
लता कुंज के ठाट भले ठये थे।
बहती थी सुगन्धित वायु अहा!
तृण कोमल ख़ूब वहाँ छये थे ॥ ११॥

चरने लगे वे सुख साथ वहाँ,
भय की न उन्हें कुछ भावना थी।
यहाँ होगा बहेलिया पास कहाँ,
इसकी न उन्हें कभी कल्पना थी ॥
पर दैव विधान विचित्र बड़ा,
उसकी कुछ और ही योजना थी।
पहुँचा वहाँ व्याध कराल महा,
जिसको कि अहेर की चिन्तना थी ॥१२॥

लख बच्चों के साथ मृगी को वहाँ,
झट घेर उन्हें चहुँ ओर लिया।
उनके विना जाने बिछा दिये जाल,
यों पार्श्व में मारग रोक दिया ॥

---

१२ नूतन—नई। तटिनी—नदी। कुंज—समूह।
१३ बहेलिया—व्याध। कराल—भयानक। अहेर—शिकार।

लगा आग दी पीछे, हुआ फिर आगे,
लिये धनु-बान, कठोर हिया।
उस व्याध ने छोड़ दिये फिर श्वान,
धरो धरो का रव घोर किया॥ १४ ॥

सहसा इस घोर विपत्ति से हो,
कर्त्तव्य-विमूढ़ मृगी अकुलानी।
नव मास के गर्भ के भार से थी,
यह यों ही स्वभाव ही से अलसानी॥
फिर साथ में थे मृदु शावक दो,
सुकुमारता की जिनकी न थी सानी।
चहुँ ओर को देखती बोली वहाँ,
वह कातर हो यह आरत बानी॥१५॥

दिशा उत्तर दच्छिण में लगे जाल,
फँसें उस ओर भगें जो कभी।
यह दावा कराल है पूर्व की ओर,
गये उस ओर हों भस्म अभी॥
करता हुआ शोर शिकारी खड़ा,
पथ पश्चिम ओर से रोक सभी।

१४ पार्श्व—बगल। श्वान—कुत्ता। रव—शोर।
१५ अकुलानी—व्याकुल हुई। आरत—दुःखित।
१६ दावा—आग। कपाल—माथा।

हम बन्दी हुए चहुँ ओर से हा !
मिटता क्या कपाल का लेखन भी ॥१६॥

तृण कोमल पत्तियाँ शाक—
वनस्पतियाँ वन में फिरते चरते।
पर-पीड़न, हिंसा तथा अपकार,
कदापि किसी की नहीं करते ॥
हम भीरु स्वभाव ही से हैं हरे !
न कठोरता भीषणता धरते।
छल-छिद्र-विहीन हैं भोले निरे,
फिर भी हैं यहाँ हम यों मरते ॥१७॥

रहती मैं अकेली तो क्या भय था,
मुझे सोच न था तनु का अपने।
पर साथ में लाड़ले जीवन मूर,
ये छौने दुलारे हैं दोनों जने ॥
फिर गर्भ में बालक है सुकमार,
इसी से मुझे दुख होते घने।
हम चारों का अन्त यों होगा हरे !
यह जाना न था मन में हमने ॥१८॥

अब क्या करूँ दीन के बन्धु हरे !
किसका मुझे बाकी भरोसा रहा।

---

१८ मूर—मूल।

पथ है चहुँ श्रोर से मेरा घिरा,
गिरा चाहता काल का वज्र महा ॥
यह पावक वेग से उग्र हुश्रा,
इसी श्रोर बढ़ा चला आता रहा।
जिसकी खर ज्वाल से नन्हे अहो,
इन छौनों का है तनु जाता दहा ॥१९॥
अरि श्वान ये तीर से आते चले,
इसी श्रोर को हैं अब ख़ैर नहीं।
बढ़ता हुश्रा व्याध भी आ रहा है,
बस अन्त है तीर जो छोड़ा कहीं ॥
करते हम यों न विलाप प्रभो !
मृग प्यारा हमारा जो होता यहीं।
कहते हुए यों रुक कण्ठ गया,
चुप हो मृगी हो गई स्तब्ध वहीं ॥२०॥
करुणा-वरुणालय श्री हरि की,
इतने में हुई कुछ ऐसी दया।
घन घोष के साथ गिरी बिजली,
जिससे कि शिकारी अचेत भया ॥
सब श्वान भगे, वन के गजों से—
वह जाल-समूह भी तोड़ा गया।

---

१९ पावक—आग। खर—सख़्त।
२० श्वान—कुत्ता। स्तब्ध—हक्का बक्का।

बरसा जल मूसलधार, बुझी—
वन दावा, मिला उन्हें जन्म नया ॥२१॥

जिन पै हरि तुष्ट हैं तो अरि दुष्ट—
करैं क्या ? अमैं गिरि में नग में ।
रिपु की असि शूल कराल मृणाल सी,
कोमल हो उनके पग में ॥
बिछते मृदु फूल अहो पल में,
दुख कण्टक छाये हुए मग में ।
जब रक्षक राम खड़े अपने,
तब भक्षक कौन यहाँ जग में ॥२२॥

यहाँ तीनों हुए अति विस्मित से,
लखि श्री हरि की यह लीला अहा !
अति मूक हुए से कृतज्ञता से,
घर जा रहे थे गहे मोद महा ॥
वहाँ देख विलम्ब को व्यग्र हुआ,
मृग ढूँढ़ने को इन्हें आता रहा ।
सुख-सीमा नहीं थी मिले जब चारों,
मृगी के सुनेत्र से आँसु बहा ॥२३॥

---

२२ नग—पहाड़ । असि—तलवार । मृणाल—भें । मग—मार्ग ।

२३ मूक—चुप ।

निज आँसुभरे नयनों से बताकर,
वृत्त अहो निज यन्त्रणा का।
मृगी ने मृग से सब हाल कहा,
उस व्याध की गुप्त कुमन्त्रणा का॥
फिर वृत्त अहो जगदीश दयानिधि—
के पदों में निज प्रार्थना का;
उनकी दया का, उनकी कृपा का,
उनकी दुख-भञ्जन-साधना का॥२४॥

मधुसूदन माधव की दया से,
हम रोग की ज्वाला मिटाते रहें।
भवबन्धन में हम बद्ध न हों,
करि कर्म से धर्म कराते रहें॥
दुख स्वान से आकुल प्राण न हों,
हम स्वास्थ्य सदा जल पाते रहें।
कलि काल शिकारी के लक्ष्य न हों,
यश श्रीहरि का नित गाते रहें॥२५॥

—लोचनप्रसाद पाण्डेय

---

२४ वृत्त—हाल। यन्त्रणा—कष्ट। कुमन्त्रणा—बुरी सलाह। भञ्जन—तोड़नेवाली।

सहगमन

छूटने पाया न कङ्कण ब्याह का।
आ गया आदेश विक्रमशाह का॥
शीघ्र ही जयसिंह जाओ युद्ध पर।
देशहित के हेतु सर्वस त्यागकर॥
पास पत्नी के गये ठाकुर तभी;
और उसको पत्र दे बोले अभी॥
शीघ्र ही फिर भेंट कर उसको हिये।
हट गये झटपट निकलने के लिए॥
देवकी ने धीर अपना खो दिया।
प्राणपति से झट लिपटकर रो दिया॥
पर अचानक भाव उसका फिर गया।
मोह का पर्दा हृदय से गिर गया॥
प्रेम से उसने सुना पति का कहा।
खेद पति के चित्त का जाता रहा॥
किन्तु आई जब बिछुड़ने की घड़ी;
गाज सी दोनों मनों पर आ पड़ी॥
मोह का संकेत फिर कर अनसुना।
धर्म का कर्त्तव्य दोनों ने गुना॥

आदेश—आज्ञा। हिये—हृदय से। गाज—बिजली। संकेत—इशारा। गुना—सोचा।

देवकी ने शीघ्र रणकङ्कण दिया;
बाँध उसको हाथ में पति ने लिया ॥
चिह्न दोनों साथ ले उत्साह में—
जा रहे जयसिंह हैं रण-चाह में ॥
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही।
किन्तु रन-मैदान में जाती रही ॥
युद्ध में तो वीर ही कुछ ध्यान है।
पूर्ण हिय में देश का अभिमान है ॥
प्राण है क्या देश के हित के लिए !
देश खोकर जो जिये तो क्या जिये ॥
मग्न हैं जयसिंह रण के चाव में;
ला रहे हैं शत्रु को निज दाव में ॥
घाटियाँ मैदान पर्वत खाइयाँ—
सब कहीं हैं सूरमा और दाइयाँ ॥
रात दिन है अग्नि-वर्षा हो रही।
रात दिन है पूर्ण लोथों से मही ॥
व्योम जल थल सब कहीं है रण मचा।
युद्ध के फल से नहीं कोई बचा ॥
एक दिन जयसिंह धावा मार कर;
दल सहित जब जा रहे थे केन्द्र-पर;

लोथ—मृत शरीर। व्योम—आकाश।

एक दाई घायलों के बीच में;
दिख पड़ी सोती रुधिर की कीच में ॥

ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा;
और फिर उसके हृदय पर कर रखा ॥

हो विकल उसको जगाने वे लगे।
मर चुकी थी वह भला अब क्यों जगे ॥

घायलों की वीर-सेवा में लगी;
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी ॥

गोलियों से शत्रु के भागी न थी।
चोट घातक पाय वह जागी न थी ॥

शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं।
थे जहाँ बैठे, रहे बैठे वहीं ॥

दुःख में अब घोर चिन्ता छा गई।
प्रियतमा कैसे यहाँ अब आ गई ॥

आ गये उस काल सेनापति वहाँ—
वीर-नारी की लखी शुभ गति वहाँ ॥

वीर होकर भी हुई उनको व्यथा।
आदि से कहने लगे उसकी कथा ॥

दाइयाँ कुछ आपके दल के लिए,
कुछ समय पहले मुझे थीं चाहिए ॥

कीच—कीचड़ । लखा—देखा । विकल—घबराकर । पगी—हूबी हुई । व्यथा—दुःख ।

की गई इसकी प्रकाशित सूचना ।
देवकी ने शीघ्र भेजी प्रार्थना ॥
दाइयों में इस तरह भरती हुई ।
अन्त लों निज काज यह करती हुई ।
शत्रु के अन्याय से मारी गई ।
पायगा फल दुष्टता का निर्दयी ॥
हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया ।
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया ॥
सौंपकर प्रिय देह सेनापति निकट ।
प्रण किया सबसे उन्होंने यह विकट ॥
भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु-नगर;
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर ॥
और जो मैं ही मरूँ रिपु हाथ में;
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में ॥
दूसरे दिन व्योम से जलता हुआ ;
पर कटे खगराज सा चलता हुआ ॥
केन्द्र से कुछ दूर रव करके बड़ा;
युद्ध का नभ-यान आकर गिर पड़ा ॥
नष्ट पुर को यान ने था कर लिया ।
मार्ग रक्षित केन्द्र का था धर लिया ॥

विकट—सख्त । रिपु—शत्रु । रव—शोर ।

किन्तु रिपु का युद्ध गोला चल उठा।
और उसकी आग से वह जल उठा॥
पर दिया था बुझ चुका यह आग से;
या बुझा उस दीप के अनुराग से॥
प्रेम-बन्धन जन्म लय का सार है।
प्रेम-बन्धन देश का उद्धार है॥
प्रेम-बन्धन देवकी-जयसिंह का;
तोप से भी रिपु न खण्डित कर सका॥

—कामताप्रसाद गुरु

खण्डित—तोड़ा हुआ।

भारत-वन्दना

जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश-पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ॥
सब सुख-सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ।
जा श्रीसोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ॥
धर्म-सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी ।
सकल कला गुण सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुझानी ॥
भये असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी ।
विबुध विप्र, विज्ञान सकल विद्या जिनतें जग जानी ॥
जग-विजयी नृप रहे कबहुँ जहँ न्याय-निरत गुन-खानी ।
जिन प्रताप सुर असुरन हू की हिम्मत विनसि बिलानी ॥
कालहु सम अरि तृन समझत जहँ के क्षत्री अभिमानी ।
वीरवधू बुध-जननि रहीं लाखन जित सती सयानी ॥
कोटि कोटि जित कोटिपती रत बनिज बनिक धन दानी ।
सेवत शिल्प यथोचित सेवा सूद्र समृद्धि बढ़ानी ॥
जाको अन्न खाय ऐंड़ति जग जाति अनेक अघानी ।

सोहानी—शोभित । अलका—कुबेरपुरी । अमरावती—इन्द्र-पुरी । धर्मसूर—धर्म का सूर्य । उयो—उदय हुआ । निरत—लगे हुए । विबुध—विद्वान् । बिलानी—नष्ट हुई । अघानी—तृप्त हुई ।

जाकी सम्पति लुटत हजारन बरसन हूँ न खोटानी ॥
सहस सहस बरिसन दुख नित नव जो न ग्लानि उर आनी ।
धन्य धन्य पूरब सम जग नृपगन मन अजहुँ लोभानी ॥
प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी ।
जिनमें झलक एकता की लखि जग-मति सहमि सकानी ॥
ईस कृपा लहि बहुरि प्रेमघन बनहु सोई छबि छानी ।
सोइ प्रताप-गुण-जन-गर्वित ह्वै भरी पुरी धन धानी ॥

—बदरीनारायण चौधरी

खोटानी—समाप्त हुई । ग्लानि—मानसी व्यथा । प्रनमत—प्रणाम करते हैं । जोरि—जोड़कर । जुग पानी—दोनों हाथ ।

प्रेम का भिखारी

जगज्जाल में फँस कर मैंने खोया शान्ति-निकेत।
माया की अज्ञान निशा में, पाया श्राम अचेत॥
कपट है बलवानों के पास,
काम है श्रीमानों के पास,
क्रोध है धीमानों के पास,
अपनों में भी भरा हुआ है मतलब का व्योहार।
बटोही प्यासा बैठा द्वार॥ १॥

साग्रह सभी लोग सिखलाते, मुझे जगत के नेम।
पर मैं सबके द्वार द्वार पर माँग रहा हूँ प्रेम॥
करेगा कोई मुझसे प्रीति,
छोड़नी होगी कुल की रीति,
भूलनी होगी श्रुति की नीति,
जाति तुरन्त गँवानी होगी तब प्रगटेगा प्यार।
बटोही बैठा प्यासा द्वार॥ २॥

---

१ निकेत—गृह। निशा—रात। अचेत—बेहोश। श्रीमान—धनवान्। धीमान—बुद्धिमान्। व्योहार—व्यवहार। बटोही—पथिक, यात्री।

२ साग्रह—आग्रह के साथ। नेम—नियम।

प्रेम-स्वाति के बिना नहीं मैं पाता हूँ जल अन्य।
नीरव हो तुम घर में बैठे, है यह काम जघन्य॥
द्वार पर पड़ा बटोही एक,
उसे है विमल प्रेम की टेक,
टेक वह जिस पर मिटे अनेक,
भिक्षा दो या कर दो मेरे प्राणों का संहार।
बटोही बैठा प्यासा द्वार॥ ३॥

—नयन

---

३ स्वाति—नक्षत्र विशेष। नीरव—चुपचाप। जघन्य—अन्तिम, चरम, निन्दित। संहार—नाश।

सुसन्देश

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्भुत मिला रही है॥
अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है॥
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोग-तप्ता सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है॥
कभी नयी तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो दो उँगलियों पै नचा रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्तिवालो सको तो जा करके कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी चुलबुल मचा रही है॥

श्रीधर पाठक

सुमञ्जु—मनोहर। गुञ्जार—गूँज। लय—ताल। लीनता—आसक्ति। अलाप—स्वर, राग। प्रवीनता—निपुणता। अलक्ष्य—जो दिखाई न दे। गत—गति। तरल—चञ्चल, पतला, दीप्तियुक्त। प्रकोपन—क्रोधमय। दाक्षिण्य—उदारता, अनुकूलता। बानक—रूप, वेष। गगन—आकाश।

कालिन्दी-तट

वसन्तोपम हरयाली है; अमल अम्बर में लाली है।
सलिल की छटा निराली है; अनिल मन हरनेवाली है॥
प्रकृति अति रङ्ग रँगीली है; प्रकाशित प्रभा छबीली है॥१॥

कलित कालिन्दी का तट है; निकट ही वर वंशी वट है।
इधर यह पक्का पनघट है; प्रेम प्यासों का जमघट है।
कृष्ण हैं गोप-सुताएँ हैं; परम प्राचीन कथाएँ हैं॥२॥

अरुणिमा आमोहक मुख हैं; झगड़ने लड़ने में सुख हैं।
दूर इनके कोसों दुख हैं; दृश्य जो कुछ हैं सम्मुख हैं।
निरादर सचमुच आदर है; परस्पर स्वीकृत सादर है॥३॥

युवतियाँ जल भरने आईं; ललित लीला करने आईं।
श्याम-मन हैं हरने आईं; स्नेह-सागर तरने आईं।
भरे हैं घट या रीते हैं; तृषित प्रेमामृत पीते हैं॥४॥

---

१ अम्बर—आकाश। सलिल—जल। अनिल—वायु।

२ कालिन्दी—यमुना। कलित—सुन्दर। पनघट—पानी भरने का घाट। जमघट—समूह।

३ अरुणिमा—लाली। आमोहक—मुग्ध करनेवाला।

४ रीते—खाली। तृषित—प्यासे।

तनिक तन से स्पर्श न हो ; नष्ट अपना आदर्श न हो।
अधिक अनुचित आकर्ष न हो; अयश-कारक सङ्घर्ष न हो।
कहा 'मत लाल हमें छूना' ; बढ़ गया स्नेह-सिन्धु दूना ॥५॥
कहा मोहन ने गीत सुनो ; सुमुखि मत हो भयभीत, सुनो।
प्रेम के सूत्र पुनीत सुनो ; समय मत करो व्यतीत, सुनो।
कहीं जो तू मुझसे अटकी ; समझ तो फूट गई मटकी ॥६॥
बिगड़कर पुनः बोलती हैं ; अनेकों भेद खोलती हैं।
श्रवण में सुधा बोलती हैं ; प्रीति की रीति तोलती हैं।
खीझतीं उन्हें खिझाती हैं ; रीझतीं और रिझाती हैं ॥७॥
सुनूँगा नहीं गालियाँ मैं ; बजाऊँ क्यों न तालियाँ मैं।
बुलाऊँगा मरालियाँ मैं ; पिलाऊँ प्रेम-प्यालियाँ मैं।
अटपटी नटखट की बातें ; सरस हैं शिशुता की घातें ॥८॥
श्रवण कर मग्न हुईं सखियाँ ; खिँच गईं भावभरी अँखियाँ।
उधर खिल गईं कञ्ज-कलियाँ ; मुदित हो गूँज उठीं अलियाँ।
सुरभियाँ भी उस ओर चलीं ; चपल चिड़ियाँ कर शोर चलीं ॥९॥
गोप-सुत भी सुध भूल गये ; हृत्कमल सबके फूल गये।

---

५ आकर्ष—खिँचाव। संघर्ष—परस्पर रगड़, मेल। सिन्धु—समुद्र।

७ सुधा—अमृत।

८ मराल—हंस। सरस—रसपूर्ण। घातें—चोटें।

९ अलियां—भौंरे। सुरभियां—गौएँ।

कूल अनुकूल दुकूल नये ; सुतरु भी हुए समूल नये।
प्रभाकर भी मनमुग्ध हुआ ; यमुन-जल भी अवरुद्ध हुआ ॥१०॥
हुए यों सुखद प्रभात कहाँ ? नहीं हैं हमको ज्ञात, कहाँ ?
गये वे सुन्दर गात कहाँ ? छिपे वे व्रज मनुजात कहाँ ?
हुईं दुर्लभ अब वे घड़ियाँ ; रह गईं बस गुण-गण लड़ियाँ ११
जहाँ नन्दन वृन्दावन था ; जहाँ मोहन जीवन-धन था।
जहाँ गोकुल गोवर्धन था ; जहाँ स्वर्गिक सुख-साधन था।
वहाँ पर अब है मित्र ! यही ; अतीत स्मृति का चित्र यही १२

—राजाराम शुक्ल

---

१० कूल—तट । दुकूल—वस्त्र । प्रभाकर—सूर्य । अवरुद्ध—रोका हुआ ।

१२ अतीत—गुज़री हुई ।

सूरदास

सूर को अन्धा कौन कहे ?

करे लोक को जो आलोकित, अन्धा वही रहे ? ॥ १ ॥

क्या प्रभु ने प्रत्यक्ष दिखाया दीप तले तम-रूप ?

नहीं, घोर तम में दिखलाया दीपक दिव्य अनूप ॥ २ ॥

दिये बिहारी चकाचौंध से सबके नेत्र बिगाड़ ।

अन्तर्दृष्टि किन्तु दी तुमको सभी हटाई आड़ ॥ ३ ॥

नेत्र-रहित हो उस अथाह की पाई तुमने थाह ।

नेत्र-सहित हम थके भटकते नहीं सूझती राह ॥ ४ ॥

गही कृष्ण ने बाँह तुम्हारी हुई न अड़चन नेक ।

तुम्हें कृष्ण ही थी सब दुनिया, थे तुम दोनों एक ॥ ५ ॥

जिस अदृश्य ने अन्धकूप से खींच किया दुख दूर ।

क़ैद उसी को किया हृदय में, हो तुम सचमुच सूर ॥ ६ ॥

कहीं न देखा सुना गया था सूर-श्याम का साथ ।

लेकिन तुमने कर दिखलाया वह भी हाथों हाथ ॥ ७ ॥

अलङ्कार-ध्वनि-रसमय निकली हृदय वेणु से तान ।

वही हमारे लिए बन गई मधुर अलौकिक गान ॥ ८ ॥

जिस सद्भक्ति-तत्त्व को उसने फैलाया सब ठौर ।

उसे भूलकर हन्त ! हुए हम आज और के और ॥ ९ ॥

—बदरीनाथ भट्ट

सूर—सूरदास, सूर्य । आलोकित—प्रकाशित । नेक—ज़रा
सूर—शूर । श्याम—काला, कृष्ण ।

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग,
और मैं चञ्चल-गति सुरसरिता ।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त-कामिनी कविता ॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति ।
तुम सुरापान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति ।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान ।
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान ॥
तुम योग और मैं सिद्धि ।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि ॥ १ ॥

तुम मृदु मानस के भाव,
और मैं मनोरञ्जिनी भाषा ।

---

१ तुङ्ग—ऊँची । शृङ्ग—चोटी । सुरसरिता—गङ्गा । भ्रान्ति—भूल, भ्रम, संशय । घन—गहरा । दिनकर—सूर्य । खर—तीखा । सरसिज—कमल । निश्छल—छल-रहित । शुचिता—पवित्रता ।

२ मृदु—कोमल । नन्दनवन—इन्द्र का बाग़ । विटप—

तुम नन्दन-वन-घन-विटप,
और मैं सुख शीतल-तल-शाखा ॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहनी माया ॥

तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झङ्कृत-सितार,
मैं व्याकुल विरह रागिनी ॥
तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु ॥ २ ॥

तुम पथिक दूर के श्रान्त,
और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार,
और जाने की मैं अभिलाषा ॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा।

वृक्ष। काया—शरीर। वेणी—चोटी। रेणु—मिट्टी। अधर—होंठ। वेणु—बांसुरी।

२ पथिक—मुसाफ़िर। श्रान्त—थके हुए। जोहती—ढूँढ़ती। दुस्तार—कठिनता से तरने योग्य। नभ—आकाश। निशीथ—रात। मधुरिमा—मिठास। पराग—पुष्परेणु। समीर—वायु। अचला—पृथ्वी।

तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा ॥

तुम गन्ध कुसुम कोमल पराग,
मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी युक्त पुरुष,
मैं प्रकृति प्रेम जञ्जीर॥
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति ॥ ३ ॥

तुम हो प्रियतम मधुमास,
और मैं पिक, कल-कूजन तान।
तुम मदन पञ्चशरहस्त,
और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका-रचना ॥
तुम रण ताण्डव-उन्माद नृत्य,
मैं युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि।

---

४ मधुमास—वसन्त। पिक—कोकिल। मदन—कामदेव। अम्बर—आकाश। तूलिका—चित्रकारों का ब्रश। दिग्वसना—दिशाएँ हैं जिसके कपड़े। ताण्डव—उद्धत नृत्य। नूपुर—पायजेब।

तुम नाद वेद ओंकार सार,
मैं कवि-शृङ्गार-शिरोमणि॥
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥ ४॥

—सूर्य्यकान्त त्रिपाठी

कुन्द—एक सफ़ेद पुष्प। इन्दु—चन्द्र। अरविन्द—कमल। व्याप्ति—विस्तार, फैलाव।

चित्तौड़

रण आँगन के चतुर चितेरे, ओ चित्तौड़ वीर अभिराम,
सती-शिरोमणि रमणी-मणि के, उज्ज्वल पद रजपूत ललाम।
हे मुर्दें के जीवन-दाता, क्षत्रिय वीरों के सिरताज,
नस नस में वीरत्व जगा दे, वह बिजली चमका फिर आज
चल फिर फूँक युद्ध अभिलाषा, खौला ख़ून बढ़ा उत्साह,
मरने की धुन पैदा कर फिर, देश धर्म की प्यारी चाह।
तूने उस पिछले जीवन में, क्या चित्तौड़ न काम किये,
अगणित क्षत्रिय वीर बाँकुरे, उस रणाग्नि में दान दिये।
पीकर ख़ून अखिल खिलजी की सेना के सिर काट लिये,
पीसे, कुचले, रगड़े दुश्मन, रण के आँगन पाट दिये।
जहाँ चञ्चला चमकी, काई सी थी फट जाती,
पल पल प्रलय मचाती जाती, सफ़ह साफ़ करती आती।
खण्ड खण्ड नरमुण्ड रुण्ड शिर, रक्त नदी में थे बहते,
पाखण्डी लोहा लेते या वन में छिप छिप थे रहते।
तेरे पद-रज-पूत के, लोहे से दुश्मन कँपते,
प्रलयान्तक रण से चपते, या साधू बन माला जपते।

आंगन—चौक, मैदान। चितेरा—चित्रकार। अभिराम—रमणीय। ललाम—श्रेष्ठ, भूषण। बांकुरा—बांका। पाट दिये—भर दिये। चञ्चला—बिजुली। सफ़ह—कतार। चपते—भागते

तुच्छ बहादुरशाह राहु, तेरी में विघ्न बना जैसे,
तूने सब कुछ दिया बुझा, उसका भी दिया वहाँ कैसे।
तूने आत्ममान सिखलाया, पुत्रों में गुरु ज्ञान दिया,
भूमण्डल के वीरवरों ने, जिन वीरों का मान किया।
हे चित्तौड़ अनन्त पटल पर, लिखा हुआ तेरा इतिहास,
सूर्य-चन्द्र जल-थल में नर के हृत्तल में होता प्रतिभास।

—उदयशङ्कर भट्ट

———

पटल—परदा। हृत्तल—हृदय का तल। प्रतिभास—प्रकाश।

प्रार्थना

जाति को जीवन दो, भगवान !

आशा का अंकुर उपजा दो, परहित का पीयूष पिला दो।
सेवा का सन्मार्ग सुझा दो, साहस का सोपान—
जाति को जीवन दो, भगवान !

प्रेम एकता का वर वर दो, ज्ञान उजाला घर घर कर दो।
कूट कूट हृदयों में भर दो, 'स्वाभिमान सम्मान'—
जाति को जीवन दो, भगवान !

दलितों के अधिकार दिला दो, बिछुड़ों को फिर गले लगा दो।
भेद भाव का भूत भगा दो, हों सब लोग समान—
जाति को जीवन दो, भगवान !

विधवादल के संकट टारो, गोकुल के कुल क्लेश निवारो।
बलहीनों में बल संचारो, निर्भय करो निदान—
जाति को जीवन दो, भगवान !

देशभक्ति की ज्योति जगा दो, धर्म-धाम का द्वार दिखा दो।
कर्मवीर बनना बतला दो, कर दयालुता दान—
जाति को जीवन दो, भगवान !

—शङ्कर

पीयूष—अमृत। सोपान—सीढ़ी। निदान—सारांश, अन्त में।